विश्वपूज्य प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि शताब्दि-दशाब्दि
महोत्सव के उपलक्ष्य में नवम खण्ड

श्री अभिधान राजेन्द्र कोष में,

जैनदर्शन वाटिका

[नवम खण्ड]

दिव्याशीषप्रदाता :

परम पूज्य, परमकृपालु, विश्वपूज्य
प्रभुश्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म. सा.

आशीषप्रदाता :

राष्ट्रसन्त वर्तमानाचार्यदेवेश
श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी म. सा.

प्रेरिका :

प. पू. वयोवृद्धा सरलस्वभाविनी
साध्वीरत्ना श्री महाप्रभाश्रीजी म. सा.

लेखिका :

साध्वी डॉ. प्रियदर्शनाश्री; (एम.ए. पीएच.डी.)
साध्वी डॉ. सुदर्शनाश्री; (एम.ए. पीएच.डी.)

पुस्तक : श्री अभिधान राजेन्द्र कोष में,
जैनदर्शन वाटिका

लेखिका : डॉ. प्रियदर्शनाश्री (एम.ए., पीएच.डी.)
डॉ. सुदर्शनाश्री (एम.ए., पीएच.डी.)

प्रेरिका : परम पूज्या वयोवृद्धा साध्वीरत्ना
श्री महाप्रभाश्रीजी म.

सुकृत सहयोगी: वीतराग एज्युकेशन एण्ड कल्चरल सोसायटी
द्वारा- **एस. एम. बाफना**, मेनेजिंग ट्रस्टी, मुम्बई

प्राप्ति स्थान : वीतराग एज्युकेशन एण्ड कल्चरल सोसायटी
7/10, बोटावाला बिल्डिंग, ब्लॉक न. 3,
दूसरा मंजिल, हार्निमल सर्कल, फोर्ट, मुम्बई ।
बाफना चेरिटेबल ट्रस्ट
फ्लेट नं. 12, नरगीन महल, वीर नरीमन रोड,
मुम्बई-400 020

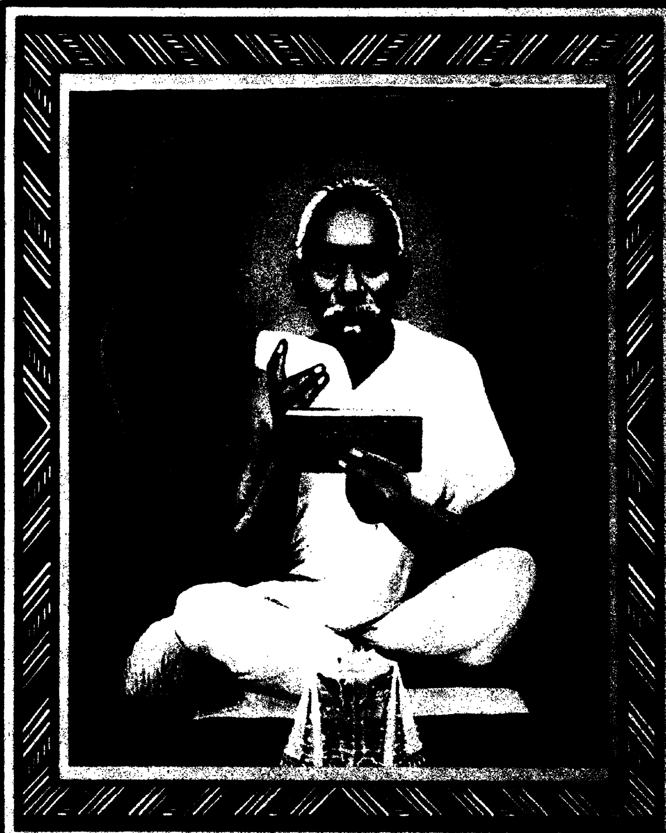
वीर संवत् : *2526*
राजेन्द्र संवत् : *93*
विक्रम संवत् : *2056*
ईस्वी सन् : *1999*
मूल्य : *130 रुपये*
प्रथम आवृत्ति : *2001*

अक्षराङ्कन : ***श्रीराजेन्द्र कम्प्यूटर्स***, उदयपुर *313001*

मुद्रण : ***पारदर्शी प्रिन्टर्स***
261, ताम्बावती मार्ग, उदयपुर (राज.)
☎ *(0294) 411029*



पूज्यपाद श्री







राष्ट्रसन्त आचार्यश्री जयन्तसेनसूरीश्वरजी म. सा.



परम पूज्या सरलस्वभाविनी साध्वीरत्ना

श्री महाप्रभाश्रीजी म. सा.

अनुक्रम

कहाँ क्या ?

समर्पण

नत चरणों में आपके

रवि-प्रभा सम है मुखश्री, चन्द्र सम अति प्रशांत ।
तिमिरि में भटके जन के, दीप उज्ज्वल कांत ॥1॥

लघुता में प्रभुता भरी, 'विश्वपूज्य' मुनीन्द्र ।
करुणा-सागर आप थे, यति के बने यतीन्द्र ॥2॥

लोक मंगली थे कमल, योगीश्वर गुरुराज ।
सुमन-माल सुन्दर सजी, करे समर्पण आज ॥3॥

अभिधान राजेन्द्र कोष, रचना रची ललाम ।
नित चरणों में आपके, विधियुत् करें प्रणाम ॥4॥

काव्य-शिल्प जाने नहीं, फिर भी किया प्रयास ।
गुरु कृपा से यह बने, जन-जन का विश्वास ॥5॥

प्रियदर्शना की दर्शना, सुदर्शना भी साथ ।
राज रहे राजेन्द्र का, चरण झुकाते माथ ॥6॥

श्री राजेन्द्रगुणगीतवेणु
श्री राजेन्द्रपदपद्मरेणु
-साध्वी प्रिय-सुदर्शनाश्री

शुभकामना

अभिधान राजेन्द्र कोष यानि विश्व की अनमोल धरोहर; जिसमें समाया है धर्म, दर्शन, भूगोल, खगोल, बाह्याभ्यन्तर स्वस्थता एवं जीवन दर्शन का विशिष्ट स्वरूप ।

संसार में हर कदम प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी उलझन से जूझ रहा है या नए-नए मोड से मार्ग तय कर गुजर रहा है, किन्तु सही मोड़ या समस्याओं के शाश्वत समाधान को अभी तक प्राप्त नहीं कर सका है ।

प्रतिदिन नये आयाम, नये आविष्कार एवं नये निर्माण को करता हुआ मानव-जगत् वास्तविकता को खोज रहा है, किन्तु अन्ततोगत्वा विश्रान्ति के सही स्थान को पा नहीं सका है ।

तब पथ भूले पथिक को धर्म का राजमार्ग प्रस्तुत करते है ज्ञानीजनों के प्रवचन ।

कितना ही क्यों न खोजे तथापि मिलना तो वही है, ज़हाँ पर अवस्थित है । उधर बढे और देखें; वहाँ पर कितना सौष्ठव एवं श्रेष्ठत्व से सुशोभित है सारा शान्ति स्थान ।

जैनदर्शन जीवन, धर्म, आचार एवं व्यवहार को प्रकट करनेवाला, बोध प्रदान कर मार्गदर्शक बनता है । यदि पूर्वाग्रह को त्यागकर व्यक्ति उधर दृष्टिपात करता है तो उसे विवादों से मुक्ति का मार्ग मिलता है, जड-चेतन का भेद दिखता है और उत्थान-पतन की स्थिति का आकलन भी प्रतीत होता है ।

परम कृपालु शासन संरक्षक विद्वद्शिरोमणि वात्सल्य के क्षीरसागर गुरुदेव प्रभु श्रीमद् राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराजा ने

'अभिधान राजेन्द्र कोष' निर्मित करके सम्पूर्ण विश्व पर अनुपम चिरस्मरणीय उपकार किया है ।

इस कोष में सभी विषय समाविष्ट हैं । चाहे जिस विषय को ढूँढ लें, मिल जाएगा ।

इसमें निरूपित जैन दर्शन के 'स्याद्वाद-अनेकान्त', 'आचार', 'आलोचना', 'तप', 'विनय' आदि विषय को खोजकर हमारी विदुषी श्रमणीद्वय डॉ. श्री प्रियदर्शनाश्रीजी एवं डॉ. श्री सुदर्शनाश्रीजी ने इसे जन समाज के सम्मुख रखने का अभिनन्दनीय कार्य किया है।

साध्वी द्वय ने प्रस्तुत "अभिधान राजेन्द्र कोष में, जैनदर्शन वाटिका" पुस्तक का आलेखन कर के अपनी विद्वत्ता का ही नहीं, अपितु जैनदर्शन के लोकमंगल स्वरूप का भी सुन्दर परिचय दिया है । मैं अनुमोदना करता हुआ प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ ।

श्रमणीद्वय ने अपने समय एवं ज्ञान-ध्यान को निश्चित रूप से सार्थक किया है । एतदर्थ बधाई !

उत्तरोत्तर साहित्य-प्रकाशन की प्रवृत्ति में ये निरन्तर लगी रहें । यही कामना ।

कुक्षी

दिनाक 17/9/98

–जयन्तसेन सूरि

मंगलाभिलाषा

विदुषी डॉ साध्वीश्री प्रिय-सुदर्शनाश्रीजी म ,
अनुवदना सुखशाता !

आपके द्वारा प्रेषित 'विश्वपूज्य' (श्रीमद् राजेन्द्र सूरिः जीवन-सौरभ), 'अभिधान राजेन्द्र कोष में, सूक्ति-सुधारस' (1 से 7 खण्ड) एव 'अभिधान राजेन्द्रकोष मे, जैनदर्शन वाटिका' की पाण्डुलिपियॉ मिली है । पुस्तके सुन्दर है । आपकी श्रुत-भक्ति अनुमोदनीय है । आपका यह लेखन श्रम अनेक व्यक्तियों के लिये चित्त के विश्राम का कारण बनेगा, ऐसा मै मानता हूँ । आगमिक साहित्य के चिन्तन, स्वाध्याय मे आपका साहित्य मददगार बनेगा ।

उत्तरोत्तर साहित्य क्षेत्र मे आपका योगदान मिलता रहे, यही मंगल कामना करता हूँ ।

उदयपुर — **-पद्मसागर सूरि**
14-5-98 — *श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र*
कोबा-382 009 (गुजरात)

शान्त सुधारस धारा

निर्वाणपदमप्येकं, भाव्यते यन्मुहुर्मुहुः ।
तदेव ज्ञान मुत्कृष्टं, निर्बन्धो नास्ति भूयसा ॥

जिससे बार-बार निर्वाण पद की ही विचारणा की जाती हो, आत्मा उसी में तन्मय बनती हो, वही ज्ञान उत्कृष्ट ज्ञान है । यदि ऐसा तात्त्विक ज्ञान हो जाय तो दूसरे ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं ।

अनन्तानन्त तीर्थङ्कर भगवन्तों ने देशना दान के द्वारा जगत् के जीवों को आत्म-ज्ञान करवाया है और वे जीवात्माएँ आत्मज्ञान को प्राप्त कर मुक्तिसुख की उपभोक्ता बनीं । उनके विरहकाल में गणधर आचार्यादि मुनि भगवन्त तीर्थङ्करोपदिष्ट ज्ञान-दान का प्रवाह अविरल बहाते रहते हैं । पूर्वकाल में गुरु शिष्यों को आगमों का अध्ययन मुखपाठ से करवाते थे । कालबल से स्मरण शक्ति का ह्रास होता गया और परमोपकारी देवर्धिगणि क्षमाश्रमण भगवन्त को आगम सूत्र भी ताड़पत्रों पर लिखवाने पडे और इसी से आज तक आगमज्ञान प्राप्त हो रहा है ।

विज्ञानयुग का प्रारम्भ होते-होते ज्ञान-दान का प्रवाह अनेक रूपों से प्रवाहमान है । व्याख्यानों के द्वारा, शिविरों के द्वारा, पुस्तकों के द्वारा, पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा एवं प्रेरणा-पत्रों के द्वारा ज्ञान-दान धारा निरन्तर चालू है ।

'अभिधान राजेन्द्र कोष' बीसवीं सदी की महत्त्वपूर्ण रचना है, जिसे विश्वपूज्य श्रीमद् राजेन्द्रसूरीश्वरजी म ने चौदह वर्ष की साधना से धन्वन्तरि के अमृत-कलश के समान जगत् को प्रदान की है ।

उस कोष पर, अनेक चातुर्मास में श्रीमद्विजय भूपेन्द्र सूरीश्वरजी म सा एवं श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी म सा ने प्रवचन देकर जनता को ज्ञान-दान दिया ।

राष्ट्रसन्त श्रीमद्विजंय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म ने भी चातुर्मास में कोष के आधार से प्रवचन दिए और 'राजेन्द्र कोष' मे 'अ' नामक एक पुस्तक का प्रकाशन भी हुआ ।

उसी शृंखला में "अभिधान राजेन्द्र कोष में, जैन दर्शन वाटिका" की रचना विदुषी साध्वीद्वय ने चिन्तन-मनन और परिशीलन करके की है, वह अनेकान्त दर्शन की मधुरिमा से परिपूर्ण है ।

उसमें आचार, आलोचना, तप, विनय और प्रतिसेवना की शान्त सुधारस धाराएँ मिल गई है, जिससे यह ग्रन्थ शोभनीय हो गया है ।

निःसन्देह साध्वीद्वय द्वारा लिखित यह ग्रन्थ अनुमोदनीय एवं प्रशंसनीय है ।

जैनदर्शन के लोक-मंगल के स्वरूप को विदुषी साध्वीद्वय ने सरल, सहज और सुबोध भाषा-शैली में समझाया है, जिससे विद्वत् समाज ही लाभान्वित नहीं होगा, अपितु जनता-जनार्दन भी इसे पढ़कर एकान्तवाद से मुक्त होकर विश्व-मैत्री और **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना से सुसंस्कृत होगा ।

साध्वीद्वय ज्ञान-दान में सक्रिय हैं । युवतियो मे संस्कार-सिंचन का कार्य उत्साह-उमंगपूर्वक शिविरों के द्वारा कर रही हैं । अनेक युवतियों का जीवन परिवर्तन हुआ है ।

इनकी लेखनी में शब्दों की सजावट एवं भावों की सुषमा का मणिकाञ्चन योग सुरम्य है । इसीप्रकार ये साहित्य सेवा के द्वारा ज्ञान-दान के कार्य को आगे बढ़ाएँ । इसी मगल-कामना के साथ ।

आहार.

आसोज सुदी पूर्णिमा

–मुनि जयानन्द

प्राक्कथन

लगभग दस वर्ष पूर्व जालोर-स्वर्णगिरितीर्थ-विश्वपूज्य की साधना-स्थली पर हमने ३६ दिवसीय अखण्ड मौनपूर्वक आयम्बिल तथा जप के साथ आराधना की थी, उससमय हमारे हृदय-मंदिर में विश्वपूज्य श्रीमद् राजेन्द्रसूरीश्वरजी गुरुदेवश्री की भव्यतम प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई, जिसके दर्शन कर एक चलचित्र की तरह हमारे नयन-पट पर गुरुवर की सौम्य, प्रशान्त, करुणार्द्र और कोमल भाव मुद्रा सहित मधुर मुस्कान अंकित हो गई । फिर हमें उनके एक-के बाद-एक अभिधान राजेन्द्र कोष के सप्त भाग दिखाई दिये और उन ग्रन्थों के पास एक दिव्य महर्षि की नयनरम्य छवि जगमगाने लगी । उनके नयन खुले और उन्होंने आशीर्वाद-मुद्रा में हमें संकेत दिये ! और हम चित्र लिखित-सी रह गईं। तत्पश्चात् आँखें खोली तो न तो वहाँ गुरुदेव थे और न उनका कोष । तभी से हम दोनों ने दृढ संकल्प किया कि हम विश्वपूज्य एवं उनके कोष पर कार्य करेंगी और जो कुछ भी मधु-संचय होगा, वह जनता-जनार्दन को देंगी । विश्वपूज्य का सौरभ सर्वत्र फैलाएँगी । उनका वरदान हमारे समस्त ग्रन्थ-प्रणयन की आत्मा है ।

16 जून 1989 के शुभ दिन **'अभिधान राजेन्द्र कोष में, जैनदर्शन वाटिका'** के लेखन-कार्य का शुभारम्भ किया ।

वस्तुतः इस ग्रन्थ के प्रणयन की प्रेरणा हमें विश्वपूज्य गुरुदेवश्री की असीम कृपा-वृष्टि, दिव्याशीर्वाद, करुणा और प्रेम से ही मिली है।

विश्वपूज्य का समस्त जीवन लोक-मंगल का अमृत-कलश था । उन्होंने अनेकान्त-दर्शन की मधुरिमा से सबको प्रभावित किया ।

इरा ग्रन्थ में अनेकान्त-स्याद्वाद, आचार, आलोचना, तप, प्रतिरोवना और विनय के कल्पपुष्पों को हमने श्रद्धा-भक्ति से स्वर्णिम धागों में पिरोये हैं । गुलाव, चम्पा, चमेली, मौलिरिरी, जुही और मरुआ के पौधों के समान इसमें छह क्यारियाँ हैं, जिनकी मन्द-मन्द परिमल सर्वत्र फैल रही है। वस्तुतः यह परम सुखदायिनी महक परम पूज्य परमाराध्यपाद परम कृपालु विश्वपूज्य श्री के जीवन का सौरभ है, जिरासे रामस्त जगत् महक रहा है।

यह वाटिका परम पूज्य परमाराध्यपाद प्रशान्तमूर्ति कविरत्न आचार्यदेवेश श्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी म सा तत्पट्टालंकार परमपूज्य तीर्थप्रभावक, साहित्यमनीषी राष्ट्रसन्त आचार्यदेवेश श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी म साहेब की शुभाशीष की अमृतवारि से अभिसिंचित हुई है । यह वाटिका फली फूली इसलिए है कि परमपूज्या परमोपकारिणी गुरुवर्या श्री हेतश्रीजी म. सा. एवं हमारी जीवन निर्मात्री परमश्रद्धेया परमपूज्या सरलस्वभाविनी साध्वीरत्ना श्री महाप्रभाश्रीजी म सा (सांसारिक पू. दादीजी) का स्नेह- वात्सल्यपूर्ण आशीर्वाद इसे भरपूर मिला है । दीक्षा से लेकर आजतक आपश्री द्वारा प्राप्त आत्मीयतापूर्ण सहयोग से ही हमें सतत ज्ञान-ध्यान, पठन-पाठन, लेखन व स्वाध्यायादि करने में हरतरह की सुविधा रही है । आपके इन अनन्त उपकारों से हम कभी भी उऋण नहीं हो सकतीं ।

हमारे पास इन गुरुजनों के प्रति आभार प्रदर्शन करने के लिए न तो शब्द है, न कौशल है, न कला है और न अलङ्कार! फिरभी अल्पमति हम इनकी करुणा, कृपा और वत्सलता का अमृत-पान कर यह ग्रन्थ सम्पन्न कर सकी हैं। उनके पद-पद्मों में हम अनन्यभावेन समर्पित हैं, नतमस्तक हैं !

इसमें जो कुछ भी श्रेष्ठ और मौलिक है वह सब उस गुरुसत्ता का ही सुफल है ।

विश्वपूज्य प्रभु श्रीमद् राजेन्द्रसूरि शताब्दि-दशाब्दि महोत्सवके उपलक्ष्य में अभिधान राजेन्द्र कोष के श्रद्धा-पुष्पों का यह गुम्फन हमारा नवम श्रद्धा-स्निग्ध उपहार है, जो उन्हीं के पुनीत पाद्-पद्मों में कवि दादू के इन शब्दों के साथ-

तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा पिण्ड और प्राण ।
मैं हूँ तेरा तू है मेरा, यह दादू का ज्ञान ॥

जिसका जिसको अर्पण कर हमें एक गहरी आत्मतृप्ति का अनुभव हो रहा है ।

हमें विश्वास है कि यह श्रद्धा-भक्ति-पुष्प जनजीवन को विश्वमैत्री, सौहार्द-समन्वय, तप-त्याग, शील-सदाचार, विनय-विनम्रता आदि नैतिक सद्गुणों की सुवास से महकाता रहेगा और हमारी आस्था के एकमात्र आलम्बन विश्वपूज्य की सुखद स्मृति को जनमानस में चिरस्मरणीय बनायेगा ।

इस ग्रन्थ में त्रुटियॉ होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि हर मानव-कृति में कुछ-न-कुछ त्रुटियॉ रह ही जाती हैं । इसीलिए लेनिन ने ठीक ही कहा है- **'त्रुटियाँ तो केवल उसी से नहीं होंगी जो कभी कोई काम करे ही नहीं ।'**

यद्यपि आलेखन में पूर्णतया सावधानी रखी गई है, फिरभी मतिमदतावश कहीं स्खलना रह गई हो तो त्रिविध मिच्छामि दुक्कड ।

गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येवप्रमादतः ।
हसंति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः ॥

श्रीराजेन्द्रगुणगीतवेणु
श्रीराजेन्द्रपदपद्मरेणु
-डॉ. प्रियदर्शनाश्री, (एम.ए., पीएच.डी.)
-डॉ. सुदर्शनाश्री; (एम.ए., पीएच.डी.)

आभार

हम परम पूज्य राष्ट्रसन्त आचार्यदेव श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी म. सा. 'मधुकर', परम पूज्य राष्ट्रसन्त आचार्यदेव श्रीमद्विजय पद्मसागर सूरीश्वरजी म. सा एव परम पूज्य मुनिप्रवर श्री जयानन्दविजयजी म. सा. के चरण कमलों में वन्दना करती हैं जिन्होंने असीम कृपा करके अपने मन्तव्य लिखकर हमें अनुगृहीत किया है । हमे उनकी शुभप्रेरणा व शुभाशीष सदा मिलती रहे, यही करबद्ध प्रार्थना है । इसके साथ ही हमारी सुविनीत गुरु बहनें सुसाध्वीजी श्री आत्मदर्शनाश्रीजी, श्री सम्यग्दर्शनाश्रीजी (सांसारिक सहोदर बहनें), श्री चारूदर्शनाश्रीजी एवं श्री प्रीतिदर्शनाश्रीजी (एम ए) की शुभकामना का सम्बल भी इस ग्रन्थ के प्रणयन में साथ रहा है । अतः उनके प्रति भी हृदय से आभारी है ।

हम पद्मविभूषण, पूर्व भारतीय राजदूत-ब्रिटेन, विश्वविख्यात विधिवेत्ता एवं महान् साहित्यकार माननीय डॉ श्रीमान् लक्ष्मीमल्लजी सिंघवी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करती है, जिन्होंने अतिभव्य मन्तव्य लिखकर हमे प्रेरित किया है । तदर्थ हम उनके प्रति हृदय से अत्यन्त आभारी है ।

इस अवसर पर हिन्दी-अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध मनीषी सरलमना माननीय डॉ. श्री जवाहरचन्द्रजी पटनी का योगदान भी जीवन में कभी नहीं भुलाया जा सकता है । पिछले दो वर्षों से सतत उनकी यही प्रेरणा रही कि आप शीघ्रातिशीघ्र 'अभिधान राजेन्द्र कोष में, सूक्ति-सुधारस' {१ से ७ खण्ड}, 'अभिधान राजेन्द्र कोष में, जैन दर्शन वाटिका', 'अभिधान राजेन्द्र कोष में, कथा-कुसुम' और 'विश्वपूज्य' (श्रीमद् राजेन्द्रसूरि : जीवन-सौरभ) आदि ग्रन्थों को सम्पन्ना करें । उनकी सक्रिय

प्रेरणा, सफल निर्देशन, सतत प्रोत्साहन व आत्मीयतापूर्ण सहयोग-सुझाव के कारण ही ये ग्रन्थ {१ से १० खण्ड} यथासमय पूर्ण हो सके है । पटनी सा ने अपने अमूल्य क्षणो का सदुपयोग प्रस्तुत ग्रन्थ के अवलोकन मे किया। हमने यह अनुभव किया कि देहयष्टि वार्धक्य के कारण कृश होती है, परन्तु आत्मा अजर-अमर है। गीता मे कहा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारूतः ॥

कर्मयोगी का यही अमर स्वरूप है ।

हम साध्वीद्वय उनके प्रति हृदय से कृतज्ञा हैं । इतना ही नही; अपितु प्रस्तुत ग्रन्थो के अनुरूप अपना आमुख लिखने का कष्ट किया । तदर्थ भी हम आभारी है ।

उनके इस प्रयास के लिए हम धन्यवाद या कृतज्ञता ज्ञापन कर उनके अमूल्य श्रम का अवमूल्यन नहीं करना चाहतीं। बस, इतना ही कहेगी कि इस सम्पूर्ण कार्य के निमित्त उन्हे ज्ञान के इस अथाह सागर मे बार-बार डुबकियॉ लगाने का जो सुअवसर प्राप्त हुआ, वह उनके लिए महान् सौभाग्य है ।

तत्पश्चात् अनवरत शिक्षा के क्षेत्र मे सफल मार्गदर्शन देने वाले शिक्षा गुरुजनो के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना हमारा परम कर्त्तव्य है । बी ए (प्रथम खण्ड) से लेकर आजतक हमारे शोध-निर्देशक माननीय डॉ श्री अखिलेशकुमारजी राय सा द्वारा सफल निर्देशन, सतत प्रोत्साहन एवं निरन्तर प्रेरणा को विस्मृत नही किया जा सकता, जिसके परिणाम स्वरूप अध्ययन के क्षेत्र मे हम प्रगतिपथ पर अग्रसर हुईं । डॉ राय सा ने प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुरूप अपना मन्तव्य लिखने का कष्ट किया । तदर्थ हम साध्वीद्वय उनके प्रति हृदय से कृतज्ञा है । इसी कडी मे श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध- संस्थान

वाराणसी के निर्देशक माननीय डॉ श्री सागरमलजी जैन के द्वारा प्राप्त सहयोग को जीवन मे कभी भी भुलाया नही जा सकता, क्योकि पार्श्वनाथ विद्याश्रम के परिसर मे सालभर रहकर हम साध्वीद्वय ने 'आचाराग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन' और 'आनन्दघन का रहस्यवाद' इन दोनो शोध-प्रबन्ध ग्रन्थो को पूर्ण किया था, जो पीएच डी की उपाधि के लिए अवधेशप्रतापसिह विश्वविद्यालय, रीवा (म प्र) ने स्वीकृत किये। हम दोनो के शोध प्रबन्ध-ग्रन्थो को पूर्ण करने मे डॉ जैन सा का अमूल्य योगदान रहा है । उन्होने प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुरूप मन्तव्य लिखने का कष्ट किया। अतः हम उनके प्रति हृदय से आभारी है ।

इनके अतिरिक्त माननीय विश्रुत पण्डितवर्य श्रीमान् दलसुख भाई मालवणियाजी, विद्वद्वर्य डॉ श्री नेमीचन्दजी जैन, विद्वद्वर्य जैन विद्या एव प्राकृत के सुप्रसिद्ध मनीषी डॉ श्री उदयचन्दजी जैन, शास्त्रसिद्धान्त रहस्यविद् ! पण्डितवर्य श्री गोविन्दरामजी व्यास, पण्डितवर्य श्री जयनन्दनजी झा व्याकरण साहित्याचार्य, पण्डितवर्य श्री हीरालालजी शास्त्री एम ए ज्योतिर्विद्, हिन्दी-अग्रेजी के सुप्रसिद्ध मनीषी श्री भागचन्दजी जैन, डॉ श्री अमृतलालजी गॉधी एव विश्व कीर्तिमान निर्माता कविवर छन्दराज 'पारदर्शी'जी आदि ने भी मन्तव्य लिखकर स्नेहपूर्ण उदारता दिखाई, एतदर्थ हम उन सबके प्रति भी हृदय से अत्यन्त आभारी है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का शुद्ध, सुन्दर, कलात्मक, बहुरगी मुद्रण पारदर्शी प्रिन्टर्स ने किया, एतदर्थ हम उनके प्रति भी हृदय से आभारी है । अन्त मे उन सभी का आभार मानती है जिनका हमे प्रत्यक्ष व परोक्ष सहकार/सहयोग मिला है ।

पौष शुक्ला सप्तमी
5 जनवरी 1998

-डॉ. प्रियदर्शनाश्री
-डॉ. सुदर्शनाश्री



श्रेष्ठीवर्य श्री मिश्रीमलजी हेमाजी बाफना
भीनमाल (राजस्थान)



श्री सुमेरमलजी मिश्रीमलजी बाफना
(एस. एम. बाफना)
भीलवाड़ा (राज.)



सुकृत सहयोगी

श्रेष्ठिवर्य श्रीमान् सुमेरमलजी बाफना

'विद्या ददाति विनयम्' की उक्ति श्रेष्ठिवर्य श्रीमान् सुमेरमलजी बाफना के लिए सार्थक है । श्री बाफनाजी लक्ष्मीपुत्र होते हुए भी विनम्र, सज्जन, कर्मयोगी एवं उदार व्यक्ति हैं । उनका अनुराग साहित्य के प्रति विशिष्ट है । वे अनेक ट्रस्टों से जुड़े हुए भी हैं । जैसे- वीतराग ऐजुकेशन एण्ड कल्चरल सोसायटी, शेठ मोतीशा रीलिजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट आदि । इसप्रकार वे साहित्य एवं समाज सेवामें संलग्न हैं । साधु–सन्तों के प्रति उनका अनुराग अनुकरणीय है । वे स्वयं साहित्यकार हैं । उनका साहित्य सत्समाज की रचना के लिए अतिशय उपयोगी है ।

इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने भीनमाल नगर में श्री ऋद्धि–सिद्धि पार्श्वनाथ प्रभु का भव्य जिनालय का निर्माण करवाया है जिसकी भव्यतम प्रतिष्ठा सन् 1994, 2 मार्च को हुई । वास्तव में प्रस्तुत मन्दिरजी की स्थापत्य कला शोभनीय है । वे स्वयं शिल्प शास्त्र के ज्ञाता हैं ।

उन्होंने 'अभिधान राजेन्द्र कोष' से प्रभावित हो प्रस्तुत कृति **'जैनदर्शन वाटिका'** का प्रकाशन स्व द्रव्य से कर महान् पुण्योपार्जन किया है ।

परम पूज्या वयोवृद्धा साध्वीरत्ना श्री महाप्रभाश्रीजी म सा (पू दादीजी म) आशीष देती हैं कि वे समाज–सेवा, साहित्य–सृजन आदि सुकृत्यों में तन–मन–धन से योगदान देते रहेंगे । यही अभ्यर्थना !

–साध्वी प्रियदर्शनाश्री
–साध्वी सुदर्शनाश्री

प्रकाशकीय

ज्ञानी सन्त-सतियों के सान्निध्य में सम्पन्न सत्सग सदैव शाश्वत एवं सुफलदायक होता है, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह पुस्तक 'जैनदर्शन वाटिका' आपके हाथों में है ।

वह क्षण मेरे स्मृति-पटल पर आज भी चलचित्र की भाँति परिलक्षित हो रहे हैं जब मैं साध्वीद्वय से एक दिन कर्मवाद और अनेकान्तवाद पर सत्संग कर रहा था । मैंने सहज जिज्ञासावश साध्वीद्वय से प्रश्न किया कि विश्वपूज्यश्री द्वारा प्रणीत अभिधान राजेन्द्र कोष में इस विषय में क्या उल्लेख मिलता है ? साध्वीद्वय ने मेरे प्रश्न के उत्तर में कहा कि इस वृहद् विश्वकोष में कर्मवाद एवं अनेकान्तवाद पर काफी विस्तृत विवेचन किया गया है । तब मैंने साध्वीद्वय से विनम्र आग्रह किया कि यदि आपश्री इन विषयों पर एक पुस्तक का प्रणयन करें जिसमें सरल एवं सुबोध शैली में कर्मवाद एवं अनेकान्तवाद के साथ-साथ जैनदर्शन पर विश्वपूज्यश्री के अभिधान राजेन्द्र कोष पर विवेचन किया जाय ।

विद्वान साध्वीवृन्द ने मेरे आग्रह का सम्मान करते हुए गहन चिन्तन-मनन एवं अथाह परिश्रम कर अभिधान राजेन्द्र कोष में 'जैनदर्शन वाटिका' पुस्तक तैयार की जो आज सभी सुधिजनों के समक्ष है । मैं आशा करता हूँ ज्ञानीजन इस कृति का पठन एवं मनन कर इसे अपने जीवन में आत्मसात करेंगे । इसी भावना एवं चाहना के साथ-

एस. एम. बाफना
अध्यक्ष
वीतराग ऐजुकेशन एण्ड कल्चरल सोसायटी
बाफना चेरिटेबल ट्रस्ट
शेठ मोतीशा रीलिजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट
(भायकला मदिर) मुम्बई

आमुख

-डॉ. जवाहरचन्द्र पटनी

एम ए (हिन्दी-अंग्रेजी) पी-एचडी बी टी

विश्वपूज्य श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी विरले सन्त थे । उनके जीवन-दर्शन से यह ज्ञात होता है कि वे लोकमंगल के क्षीर-सागर थे । उनके प्रति मेरी श्रद्धा-भक्ति तब विशेष बढ़ी, जब मैंने कलिकाल कल्पतरू श्री वल्लभसूरिजी पर 'कलिकाल कल्पतरू' महाग्रन्थ का प्रणयन किया, जो पीएच डी उपाधि के लिए जोधपुर विश्वविद्यालय ने स्वीकृत किया । विश्वपूज्य प्रणीत 'अभिधान राजेन्द्र कोष' से मुझे बहुत सहायता मिली । उनके पुनीत पद-पद्मों में कोटिशः वन्दन !

फिर पूज्या डॉ साध्वीद्वय द्वारा श्री प्रियदर्शनाश्रीजी म एवं डॉ श्री सुदर्शनाश्रीजी के ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र कोष में, जैनदर्शन वाटिका', 'अभिधान राजेन्द्र कोष में, सूक्ति-सुधारस' {1 से 7 खण्ड}, 'विश्वपूज्य' (श्रीमद् राजेन्द्रसूरि : जीवन सौरभ), 'अभिधान राजेन्द्र कोष में कथा-कुसुम', 'सुगन्धित सुमन', 'जीवन की मुस्कान', एवं 'जिन खोजा तिन पाइयॉ', आदि ग्रन्थों का अवलोकन किया । विदुषी साध्वीद्वय ने विश्वपूज्य की तपश्चर्या, कर्मठता एवं कोमलता का जो वर्णन किया है, उससे मैं अभिभूत हो गया और मेरे सम्मुख इस भोगवादी आधुनिक युग में पुरातन ऋषि-महर्षि का विराट् और विनम्र, करूणार्द्र तथा सरल, लोक-मंगल का साक्षात् रूप दिखाई दिया ।

विश्वपूज्य इतने दृढ़ थे कि भयङ्कर झंझावातो और सघर्षों में भी अडिग रहे । सर्वज्ञ वीतराग प्रभु के परम पुनीत स्मरण से वे अपनी नन्हीं देह-किश्ती को उफनते समुद्र में निर्भय चलाते रहें । स्मरण हो आता है, परम गीतार्थ महान् आचार्य मानतुगसूरिजी रचित महाकाव्य भक्तामर का यह अमर श्लोक–

अम्भो निधौ क्षुभित भीषण नक्रचक्र,
पाठीन पीठ भय दोल्बण वाडवाग्नौ ।
रङ्गत्तरङ्ग शिखर स्थित यान पात्रा-
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ॥

हे स्वामिन् ! क्षुब्ध बने हुए भयङ्कर मगरमच्छों के समूह और पाठीन तथा पीठ जाति के मत्स्य व भयङ्कर वड़वानल अग्नि जिसमें हैं, ऐसे समुद्र में जिनके जहाज लहरों के अग्रभाग पर स्थित हैं, ऐसे जहाजवाले लोग आपका मात्र स्मरण करने से ही भयरहित होकर निर्विघ्न रूप से इच्छित स्थान पर पहुँचते हैं ।

विदुषी डॉ साध्वीद्वय ने विश्वपूज्य के विराट् और कोमल जीवन का यथार्थ वर्णन किया है । उससे यह सहज प्रतीति होती है कि विश्वपूज्य कर्मयोगी महर्षि थे, जिन्होंने उस युग में व्याप्त भ्रष्टाचार और आडम्बर को मिटाने के लिए ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, वन-उपवन में पैदल विहार किया । व्यसनमुक्त समाज के निर्माण में अपना समस्त जीवन समर्पित कर दिया ।

विदुषी लेखिकाओं ने यह बताया है कि इस महर्षि ने व्यक्ति और समाज को सुसंस्कृत करने हेतु सदाचार-सुचरित्र पर बल दिया तथा सत्साहित्य द्वारा भारतीय गौरवशालिनी संस्कृति को अपनाने के लिए अभिप्रेरित किया ।

इस महर्षि ने हिन्दी में भक्तिरस पूर्ण स्तवन, पद एवं सज्झायादि गीत लिखे हैं, जो सर्वजन हिताय, स्वान्तः सुखाय और भक्तिरस प्रधान हैं । इनकी समस्त कृतियाँ लोकमंगल की अमृत गगरियाँ हैं ।

गीतों में शास्त्रीय संगीत एवं पूजा-गीतों की लावणियाँ हैं, जिनमें माधुर्य भरपूर हैं । विश्वपूज्य ने रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा एवं दृष्टान्त आदि अलङ्कारों का अपने काव्य में प्रयोग किया है, जो अप्रयास है । ऐसा लगता है कि कविता उनकी हृदय वीणा

पर सहज ही झकृत होती थी । उन्होने यद्यपि स्वान्तः सुखाय गीत रचना की है, परन्तु इनमें लोक मागल्य का अमृत स्रवित होता है । उनके तपोमय जीवन में प्रेम और वात्सल्य की अमीवृष्टि होती है ।

विश्वपूज्य अर्धमागधी, प्राकृत एवं संस्कृत भाषाओं के अद्वितीय महापण्डित थे । उनकी अमर कृति 'अभिधान राजेन्द्र कोष' में इन तीन भाषाओं के शब्दों की सारगर्भित और वैज्ञानिक व्याख्याएँ हैं । यह केवल पण्डितवरों का ही चिन्तामणि रत्न नहीं है, अपितु जनसाधारण को भी इस अमृत-सरोवर का अमृत-पान करके परम तृप्ति का अनुभव होता है ।

उदाहरण के लिए- जैनधर्म में 'नीवि' और 'गहुँली' शब्द प्रचलित हैं । इन शब्दों की व्याख्या मुझे कहीं नहीं मिली । इन शब्दों का समाधान इस कोष में है । 'नीवि' अर्थात् नियम पालन करते हुए विधिपूर्वक आहार लेना । गहुँली गुरु भगवन्तों के शुभागमन पर मार्ग में अक्षत का स्वस्तिक करके उनकी वधामणी करते हैं और गुरुवर के प्रवचन के पश्चात् गीत द्वारा गहुँली गीत गाया जाता है । इनकी व्युत्पत्ति-व्याख्या 'अभिधान राजेन्द्र कोष' में मिलीं । पुरातनकाल में गेहूँ का स्वस्तिक करके गुरुजनों का सत्कार किया जाता था । कालान्तर में अक्षत-चावल का प्रचलन हो गया । यह शब्द योगरूढ हो गया, इसलिए गुरुभगवन्तों के सम्मान में गाया जाने वाला गीत भी गहुँली हो गया । स्वर्ण मोहरों या रत्नों से गहुँली क्यों न हो, वह गहुँली ही कही जाती है । भाषा विज्ञान की दृष्टि से अनेक शब्द जिनवाणी की गङ्गोत्री में लुढ़क-लुढ़क कर, घिस-घिसकर शालिग्राम बन जाते हैं । विश्वपूज्य ने प्रत्येक शब्द के उद्गम-स्रोत की गहन व्याख्या की है; अतः यह कोष वैज्ञानिक है, साहित्यकारों एवं कवियों के लिए रसात्मक है तथा जनसाधारण के लिए शिव-प्रसाद है ।

जब कोष की बात आती है तो हमारा मस्तक हिमगिरि के समान विराट् गुरुवर के चरण-कमलों में श्रद्धावनत हो जाता है। षष्टिपूर्त्ति के तीन वर्ष बाद 63 वर्ष की वृद्धावस्था में विश्वपूज्य ने 'अभिधान राजेन्द्र कोष' का श्रीगणेश किया और 14 वर्ष के अनवरत परिश्रम व लगन से 76 वर्ष की आयु में इसे परिसम्पन्न किया ।

इनके इस महत्दान का मूल्याङ्कन करते हुए मुझे महर्षि दधीचि की पौराणिक कथा का स्मरण हो आता है, जिसमें इन्द्र ने देवासुर संग्राम में देवों की हार और असुरों की जय से निराश होकर इस महर्षि से अस्थिदान की प्रार्थना की थी । सत् विजयाकांक्षा की मंगल-भावना से इस महर्षि ने अनशन तप से देह सुखाकर अस्थिदान इन्द्र को दिया था, जिससे वज्रायुध बना । इन्द्र ने वज्रायुध से असुरों को पराजित किया । इसप्रकार सत् की विजय और असत् की पराजय हुई । 'सत्यमेव जयते' का उद्घोष हुआ ।

सचमुच यह कोष वज्रायुध के समान सत्य की रक्षा करने वाला है और असत्य का विध्वंस करने वाला है ।

विदुषी साध्वीद्वय ने इस महाग्रन्थ का मन्थन करके जो अमृत प्राप्त किया है, वह जनता-जनार्दन को समर्पित कर दिया है ।

सारांश में, यह ग्रन्थ 'सत्यं-शिवं-सुन्दरं' की परमोज्ज्वल ज्योति को सब युगों में जगमगाता रहेगा-यावत्चन्द्र दिवाकरौ ।

इस कोष की लोकप्रियता इतनी है कि साण्डेराव ग्राम (जिला- पाली-राजस्थान) के लघु पुस्तकालय में भी इसके नवीन संस्करण के सातों भाग विद्यमान हैं । यही नहीं, भारत के स .स्त विश्वविद्यालयों, श्रेष्ठमहाविद्यालयों तथा पाश्चात्त्य देशों के विद्या-संस्थानों में भी ये उपलब्ध हैं । इनके बिना विश्वविद्यालय एवं शोध संस्थान रिक्त लगते हैं ।

विदुषी साध्वीद्वय निःसंदेह यशोपात्रा हैं; क्योंकि उन्होंने विश्वपूज्य के पाण्डित्य को ही अपने ग्रन्थों में नहीं दर्शाया है; अपितु इनके लोक-मांगल्य का भी प्रशस्त वर्णन किया है ।

ये महान् कर्मयोगी पत्थरों में फूल खिलाते हुए मरुभूमि में गंगा-जमुना की पावन धाराएँ प्रवाहित करते हुए, बिखरे हुए समाज को कलह के काँटों से बाहर निकाल कर प्रेम-सूत्र में बाँधते हुए, पीडित प्राणियों की वेदना मिटाते हुए तथा पर्यावरण-शुद्धि के लिए आत्म-जागृति का पाञ्चजन्य शंख बजाते हुए 80 वर्ष की आयु में प्रभुशरण में कल्प-पुष्प के समान समर्पित हो गए ।

श्री वाल्मीकि ने रामायण में यह बताया है कि भगवान् राम ने 14 वर्षों के वनवास काल में अछूतों का उद्धार किया, दुःखी-पीड़ित प्राणियों को जीवन-दान दिया, असुर प्रवृत्ति का नाश किया और प्राणि-मैत्री की रसवन्ती गंगधारा प्रवाहित की । इस कालजयी युगवीर आचार्य ने इसीलिए 14 वर्ष कोष की रचना में लगाये होंगे । 14 वर्ष शुभ काल है-मङ्गल विधायक है । महर्षियों के रहस्य को महर्षि ही जानते हैं ।

लाखों-करोडों मनुष्यों का प्रकाश-दीप बुझ गया, परन्तु वह बुझा नहीं है । वह समस्त जगत् के जन-मानसों में करूणा और प्रेम के रूप में प्रदीप्त हैं ।

विदुषी साध्वीद्वय के ग्रन्थों को पढकर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि विश्वपूज्य केवल त्रिस्तुतिक आम्नाय के ही जैनाचार्य नहीं थे, अपितु समस्त जैन समाज के गौरव किरीट थे । वे हिन्दुओं के सन्त थे, मुसलमानो के फकीर और ईसाइयों के पादरी । वे जगद्गुरु थे । विश्वपूज्य थे और हैं ।

विदुषी साध्वीद्वय की भाषा शैली वसन्त की परिमल के समान मनोहारिणी है । भावों को कल्पना और अलङ्कारों से

इक्षुरस के समान मधुर बना दिया है । समरसता ऐसी है जैसे सुरसरि का प्रवाह ।

दर्शन की गम्भीरता भी सहज और सरल भाषा-शैली से सरस बन गयी है ।

इन विदुषी साध्वियों के मङ्गल प्रसाद से समाज सुसस्कारों के प्रशस्त-पथ पर अग्रसर होगा । भविष्य में भी ये साध्वियाँ तृष्णा तृषित आधुनिक युग को अपने जीवन-दर्शन एवं सत्साहित्य के सुगन्धित सुमनों से महकाती रहेंगी । यही शुभेच्छा !

पूज्या साध्वीजीद्वय को विश्वपूज्य श्रीमद् राजेन्द्रसूरीश्वरजी म सा की पावन प्रेरणा प्राप्त हुई, इससे इन्होंने इन अभिनव ग्रन्थों का प्रणयन किया । यह सच है कि रवि-रश्मियों के प्रताप से सरोवर में सरोज सहज ही प्रस्फुटित होते हैं । वासन्ती पवन के हल्के से स्पर्श से सुमन सौरभ सहज ही प्रसृत होती है । ऐसी ही विश्वपूज्य के वात्सल्य की परिमल इनके ग्रन्थों को सुरभित कर रही हैं । उनकी कृपा इनके ग्रन्थों की आत्मा है ।

जिन्हें महाज्ञानी साहित्यमनीषी राष्ट्रसन्त प पू आचार्यदेवेश श्रीमद् जयन्तसेनसूरीश्वरजी म सा का आशीर्वाद और परम पूज्या जीवननिर्मात्री (सांसारिक दादीजी) साध्वीरत्ना श्री महाप्रभाश्रीजी म सा का अमित वात्सल्य प्राप्त हों, उनके लिए ऐसे ग्रन्थों का प्रणयन सहज और सुगम क्यों न होगा ? निश्चय ही ।

वात्सल्यभाव से मुझे आमुख लिखने का आदेश दिया पूज्या साध्वीद्वय ने । उसके लिए आभारी हूँ, यद्यपि मैं इसके योग्य किञ्चित् भी नहीं हूँ । इति शुभम् !

पौष शुक्ला सप्तमी
5 जनवरी, 1998
कालन्द्री जि सिरोही (राज)

पूर्व प्राचार्य
श्री पार्श्वनाथ उम्मेद कॉलेज,
फालना (राज)

दो शब्द

-पं. दलसुख मालवणिया

*पूज्या डॉ. प्रियदर्शनाश्रीजी एवं डॉ. सुदर्शनाश्रीजी साध्वीद्वय ने **'अभिधान राजेन्द्र कोष में, जैनदर्शन वाटिका'** एवं **'अभिधान राजेन्द्र कोष में सूक्ति-सुधारस'** (1 से 7 खण्ड) आदि ग्रन्थ लिखकर तैयार किए हैं, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं गौरवमयी रचनाएँ हैं । उनका यह अथक प्रयास स्तुत्य है । साध्वीद्वय का यह कार्य उपयोगी तो है ही, तदुपरान्त जिज्ञासुजनों के लिए भी उपकारक हो, वैसा है ।*

इसप्रकार जैनदर्शन की सरल और संक्षिप्त जानकारी अन्यत्र दुर्लभ है । जिज्ञासु पाठकों को जैनधर्म के सद् आचार-विचार, तप-संयम, विनय-विवेक विषयक आवश्यक ज्ञान प्राप्त हो जाय, वैसी कृतियाँ हैं ।

पूज्या साध्वीद्वय द्वारा लिखित इन कृतियों के माध्यम से मानव-समाज को जैनधर्म-दर्शन सम्बन्धी एक दिशा, एक नई चेतना प्राप्त होगी ।

ऐसे उत्तम कार्य के लिए साध्वीद्वय का जितना उपकार माना जाय, वह स्वल्प ही होगा ।

दिनाक 30-4-98
माधुरी-8
आपरा सामायटा पालडी
अहमदावाद 380007 (गुजरात)

मंतव्य

-डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी
(पद्म विभूषण, पूर्व भारतीय राजदूत ब्रिटन)

आदरणीया डॉ. प्रियदर्शनाजी एवं डॉ. सुदर्शनाश्री साध्वीद्वय ने "विश्वपूज्य" {श्रीमद् राजेन्द्रसूरि : जीवन-सौरभ}, "अभिधान राजेन्द्र कोष में, सूक्ति-सुधारस (1 से 7 खण्ड) " एवं "अभिधान राजेन्द्र कोष में, जैनदर्शन-वाटिका" की रचना में जैन परम्परा की यशोगाथा की अमृतमय प्रशस्ति की है । ये ग्रन्थ विदुषी साध्वीद्वय की श्रद्धा, निष्ठा, शोध एवं दृष्टि-सम्पन्नता के परिचायक एवं प्रमाण हैं । एक प्रकार से इस ग्रन्थ-त्रयी में जैन-परम्परा की आधारभूत रत्नत्रयी का प्रोज्ज्वल प्रतिबिम्ब है । युगपुरुष, प्रज्ञामहर्षि, मनीषी आचार्य श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी के व्यक्तित्व और कृतित्व के विराट् क्षितिज और धरातल की विहङ्गम छवि प्रस्तुत करते हुए साध्वीद्वय ने इतिहास के एक शलाका पुरुष की यश-प्रतिमा की संरचना की है, उनकी अप्रतिम उपलब्धियों के ज्योतिर्मय अध्याय को प्रदीप्त और रेखाङ्कित किया है, इन ग्रन्थों की शैली साहित्यिक है, विवेचन विश्लेषणात्मक है, सम्प्रेषण रस-सम्पन्न एवं मनोहारी है और रेखाङ्कन कलात्मक है ।

पुण्यश्लोक प्रातःस्मरणीय आचार्य श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी अपने जन्म नाम के अनुसार ही वास्तव में "रत्नराज" थे । अपने समय में वे जैन परम्परा में ही नहीं, बल्कि भारतीय विद्या के विश्रुत विद्वान् एवं विद्वत्ता के शिरोमणि थे । उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में सागर की गहराई और पर्वत की ऊँचाई विद्यमान थी । इसीलिए उनको विश्वपूज्य के अलङ्करण से विभूषित करते हुए वह अलङ्करण ही अलंकृत हुआ । भारतीय वाङ्मय में "अभिधान राजेन्द्र कोष" एक अद्वितीय, विलक्षण और विराट्

कीर्तिमान है जिसमे सस्कृत, प्राकृत एव अर्धमागधी की त्रिवेणी भाषाओ और उन भाषाओं में प्राप्त विविध परम्पराओ की सूक्तियो की सरल और साङ्गोपाङ्ग व्याख्याएँ है, शब्दो का विवेचन है और दार्शनिक सन्दर्भों की अक्षय सम्पदा है । लगभग 60 हजार शब्दों की व्याख्याओं एव साढे चार लाख श्लाको के ऐश्वर्य से महिमामण्डित यह ग्रन्थ जैन परम्परा एव समग्र भारतीय विद्या का अपूर्व भण्डार है । साध्वीद्वय डॉ प्रियदर्शनाश्री एव डॉ सुदर्शनाश्री की यह प्रस्तुति एक ऐसा साहसिक सारस्वत प्रयास है जिसकी सराहना और प्रशस्ति में जितना कहा जाय वह स्वल्प ही होगा, अपर्याप्त ही माना जाएगा । उनके पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ "आनन्दघन का रहस्यवाद" एवं "आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन" प्रत्यूष की तरह इन विदुषी साध्वियों की प्रतिभा की पूर्व सूचना दे रहे थे । विश्वपूज्य की अमर स्मृति में साधना के ये नव दिव्य पुष्प अरुणोदय की रश्मियों की तरह हैं।

24-4-1998

4 F, White House
10, Bhagwandas Road, New Delhi-110001

जैन दर्शन वाटिका : मेरी दृष्टि में

-डॉ. नेमीचन्द जैन
सम्पादक 'तीर्थङ्कर'

प्रातःस्मरणीय श्रीमद् राजेन्द्रसूरीश्वरजी के विचक्षण व्यक्तित्व की बहुआयामिता स्वयसिद्ध है । सप्तजिह्व अग्नि की भाँति, इसकी उष्णता के प्रमाण जुटाने की जरूरत कदाचित् नहीं है । सूरज को ले । वह परम ऊर्जस्वी और ज्योतिर्मान है; इसलिए सूरज को सूरज सिद्ध करने में अपनी शक्ति का अपव्यय, अज्ञान और मूर्खता से अधिक शायद कुछ नही है । यही स्थिति श्रीमद् की है; वे है और परम तपोधन है; उनकी इस ओजस्विता को सिद्ध करने की आवश्यकता कहाँ है ?

श्रीमद् और उनकी महान् कृति 'अभिधान राजेन्द्र' यावच्चन्द्रदिवाकरौ कृति है । अक्षर अमर है । 'अभिधान राजेन्द्र' अक्षर नहीं, बल्कि अक्षरसकुल है । वह अमरो मे अमर है । यह विश्व भले ही न रहे; किन्तु यह सम्भव ही नही है कि 'अभिधान राजेन्द्र' अपने परिपूर्ण वैभव के साथ वजूद में न हो ।

हम 'अभिधान राजेन्द्र' की सर्वाङ्गपूर्णता को इस लोकविश्रुत उक्ति के द्वारा स्पष्ट करना चाहेंगे । यह कृति 'खाण्ड की रोटी है, जिसे जिधर से चखो उधर से वह मिष्ठ-मधुर है। इसे कही से भी, कभी भी, कहीं भी अनुभव मे लें यह असम्भव ही है कि आपमे कैवल्य का आलोक उसकी कोई किरण प्रस्फुटित न हो। यह कालजयी कृति है, जिसमें वह सब है जिसे हम अन्यत्र ढूँढते फिरते हैं। प्रस्तुत कृति 'जैन दर्शन वाटिका' मे अनेकान्त/स्याद्वाद, आचार-शास्त्र, आलोचना, तप, प्रतिसेवना और विनय जैसे महत्त्व के विषयो की विवेचना हुई है। ऐसे समय, जब जैनो में धार्मिक/आध्यात्मिक निरक्षरता अपनी

पराकाष्ठा पर है, धर्मानुरक्ता साध्वीद्वय का यह सामयिक प्रयास ऐतिहासिक है, अतः श्लाघ्य और प्रणम्य है ।

मैं मानता हूँ कि इसका प्रकाशन श्रीमद् की क्रान्ति-धारणा को पुनरुज्जीवित करेगा और हमारे धार्मिक ढाँचे मे जो अशुचिता और शिथिलता आ गयी है, उसके परिमार्जन तथा निर्मलीकरण मे हमारी मदद करेगा । मुझे विश्वास है प्रस्तुत कृति के प्रकाशन से एक युगान्तर घटित होगा और हम सास्कृतिक पुनरुत्थान की दिशा में पूरे उत्साह के साथ प्रवृत्त हो सकेगे ।

27.04.1998
65, पत्रकार कॉलोनी,
कनाड़िया मार्ग, इन्दौर (म.प्र.)

मंतव्य

-डॉ. सागरमल जैन

"अभिधानराजेन्द्रकोष में, जैनदर्शन वाटिका" नामक प्रस्तुत कृति अभिधानराजेन्द्रकोष में उपलब्ध जैनधर्म-दर्शन के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों का विश्लेषणात्मक विवेचन है । यह एक सुविदित है कि अभिधानराजेन्द्रकोष जैनधर्म-दर्शन के सभी पक्षों पर प्रमाणपूर्वक संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के मूल एवं टीका ग्रन्थों के आधार पर गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करने वाला एक आकर {निधि} ग्रन्थ है । प्रस्तुत कृति में साध्वी द्वय डॉ प्रियदर्शनाश्रीजी एवं डॉ. सुदर्शनाश्रीजी ने उसी के आधार पर जैनधर्म-दर्शन के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है । प्रस्तुत कृति में उन्होंने 'अभिधान राजेन्द्र : अनेकान्त और स्याद्वाद', 'अभिधान राजेन्द्र : आचार-विज्ञान', 'अभिधान राजेन्द्र : आलोचनाविधि (प्रायश्चित्त)', 'अभिधान राजेन्द्र : तप', 'अभिधान राजेन्द्र : प्रतिसेवना' और 'अभिधान राजेन्द्र : विनय' आदि विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला है । यद्यपि प्रस्तुत धार्मिक एवं दार्शनिक विवेचनाओं के सन्दर्भ में साध्वी द्वय के लिए उपजीव्य तो अभिधान राजेन्द्रकोष ही रहा है, किन्तु उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर उपर्युक्त विषयो को सहज एवं सरल हिन्दी भाषा में इसप्रकार से प्रस्तुत किया है कि जन साधारण भी जैनधर्म-दर्शन के इन महत्त्वपूर्ण पक्षों को आसानी से समझ सकता है । प्रस्तुत कृति में उन्होने अभिधानराजेन्द्रकोष के संदर्भ देकर इस कृति को विद्वत् भोग्य बनाने का प्रयास किया है । अभिधानराजेन्द्रकोष के सदर्भ के साथ-साथ उन मूल ग्रन्थों का, जिनसे ये गाथाएँ एवं व्याख्याएँ अभिधानराजेन्द्रकोष में अवतरित हुई हैं, के संदर्भ भी दे दिये

गए हैं । प्रत्येक पुष्प के अन्त में मूल ग्रन्थों के संदर्भ होने से यह कृति शोध-अध्येताओं के लिए भी उपयोगी बन गई है । मुझे यह विश्वास है कि साध्वी-द्वय की यह कृति अपने पाठकों को अभिधान राजेन्द्रकोष में अवगाहन के लिए प्रेरणादायक सिद्ध होगी ।

साध्वी-द्वय की विशिष्टता यह है कि वे ज्ञान-निष्ठ होने के साथ-साथ साधना-निष्ठ भी हैं । यदि जन साधारण उनकी इन कृतियों का अवगाहन कर साधना-निष्ठ भी बनेगा तो निश्चय ही उनका यह श्रम सफल होगा । साध्वी-द्वय ने अभिधानराजेन्द्रकोष के महासागर में से जैनधर्म-दर्शन से कुछ मोती निकाले हैं । अभी अभिधानराजेन्द्रकोष रूपी इस महासागर में ऐसे अनेकानेक मोती विकीर्ण पड़े हैं । आशा है कि साध्वीश्रीजी अपनी ज्ञान-साधना के माध्यम से उस महाग्रन्थ का मंथन कर ऐसी अनेकानेक मुक्ताओं को जन साधारण को समर्पित करेंगी ।

दिनांक 31-6-1998

-पूर्व निदेशक
पार्श्वनाथ विद्यापीठ,
वाराणसी (उ. प्र.)

राजिंद अहिहाण–दंसणं

✓ डॉ. उदयचन्द्र जैन

अम्हाण जिण-सक्किईए विहिण्ण-अगेसु णिमाय-सत्थस्स विगासे वियारं करिस्सामो। इमाए सक्किईए धम्म-दंसण-णाय-साहिच्च-वियागरण-आउव्वेय- जोइसाईण गथाण विविहसत्थाण समावेसो अत्थि। पच्चेगम्मि गहीरेण वियारंज्जा।

अज्झप्पिग-उव्वरा-भूमिए जिणधम्मस्स उप्पत्ती जाया। इमाओ विगसिओ समिहो य। इणं भरहिज्ज-धम्म-भवया वि वेदेसु। वेदिगेसु वोहेसु दोसु य भरहिज्जप्पहाण-धम्मेसु भिण्णो। अस्स पवदृगा चउव्वीस-तित्थयरा अत्थि। अस्स धम्मस्स अंतिम-पवदृग-तित्थयर-महावीरो, तस्सेव परंपरा अज्ज विज्जए। अस्स आई-पवदृग-आइबंह्मा उसहो। सो उसहदेवो, रिसहदेवो, वसहदेवो, आईदेवो, आइजिणो, आइगाहो, पयावई, पुरुदेवो, णाहिसूणू, मरु-लालो आई वि। तेण भारह-सक्किईए पारंभिग-विगासो कओ। अजियो, सभवो, अहिणदणो आई वि तित्थयराण पच्छा अणेगा तित्थयरा भूआ। पारस-पहुस्स पच्छा महावीरस्स देसणाए विविहाणि रूवाणि अत्थि। महावीरस्स पहाण-सिस्सेहिं सिहंताण पडिवाइओ। सुयस्स परपराए उच्छेयस्स पच्छा जिणदेसणाए विविहाणि वायणाणि जाया। तेसु णिम्म-वायणा पसुहा–

1. **पढुम-वायणा**– पाडलिपुत्त-वायणा-महावीर-णिव्वाणस्स पच्छा एवा-सय सट्ठी-वास पाडलिपुत्तम्मि जाया। तस्स मूलणायगा-थूलभद्दाइरियो आसी।

2. **वीय-वायणा**– वीर-णिव्वाणस्स अडसय-सत्तावीस-अडसय-चालीस- (827-840)। अस्स पमुहो खदलिओ। सा वायणा महुरा वायणा वि।

3. **अंतिम-वायणा**— देवद्धिखमासमणस्स इणम्मि महत्तपुण्ण-ठाणं आसी । सा वायणा वीर-णिव्वाणस्स णवसय-असीइ (980) जआ ।

इमा वायणाणं मूल-रहस्सो अंग-उवंग-छेयसुत्त-मूलसुत्त-पकिण्णग- चूलिगाई रूवे पासिद्धो । तं रहस्सं तं वाणिं च आगम-वाणी, जिणवाणी, वीयराग-वाणी, सव्वण्णु-वाणीआई भासिआ । इमाणं आगमाणं मूले विविह-दंसणाणं समावेसो जाओ। इमेहिं जिण-णाय-विगासो वि जाओ । वियागाणं दंसणजुगस्स णिम्म रूवे विहत्ता—

1 आगम-युगस्स जिण-दंसणं ।
2 दंसण-जुगस्स जिण-दंसणं ।
3 अणेगंतस्स वियारधारा ।
4 णयस्स दिट्ठी ।
5 सियादवादस्स सत्तभंगी परंपरा ।
6 पमाणस्स आलोउ णं ।
7 अणुमाणस्स पयोजणं ।

मुलाओ (1) आगम-जुगस्स दंसणं (2) दंसणजुगस्स दंसणं (3) पमाणजुगस्स दंसण महत्तपुण्णो अत्थि ।

जिण-दंसणस्स विगासो—

तित्थयर-वयणाण सारो आगमेसु अत्थि, तेसु च एव दसणस्स विगासो जाओ । आयारग-सुत्तम्मि जा वियारधारा अत्थि सा सियादवायस्स अत्थि । सुत्तकयम्मि विविह-दंसणाणं समावेसो अत्थि । तेसु किरियावायो, अकिरियावायो, णाणवायो, विण्णाणवायो भूअवाओ आई पमुहा अत्थि । अण्ण-आगमेसुं च जिणदसण अत्थि ।

उसहाइ-महावीरंतेहिं स-अप्पुवलब्धीए ।
धम्म-तित्थयरेहि तु सियादवादीण णमो णमो ॥

उसहाईहिं महावीरेहिं पच्छा जिणदंसणस्स विगासो णिम्म-रूवे जाओ—

1 आइकालो—(ई 200 ई. 650)
2. मज्झकालो—(ई. 650 ई 1050)
3 अंतकालो—(ई 1050 ई. 1700)

महावीरस्स अत्थित्तकालो ई.पू.599-527 अत्थि । ताओ समयाओ ईसाए पढम-सईं पेरंतं आगमजुगो । ईसाए बीअ-सईए दंसणजुगस्स आदंभो तह ईसाए अट्ठ-णव-सईए पमाणजुगस्स समारंभो जाओ । आगमजुगस्स दंसणे णाणं विसदं विवेयणं अत्थि ।

दंसणजुगस्स पारंभो ईसा-पुव्व-अट्ठसईए । ईसाए पढम-सइं पेरंतं च पच्चक्ख-णाणं तक्कपमाणं च । तं पच्छा पमाण-जुगस्स पारंभो । तस्सिं विविह-दंसणाणं खंडणं ण केवलं पमाणाहारेण किओ, अवि तु अणुमाण-आगम-पच्चहिणाण-तक्काई आहारेण खंडणं-विहंखणं च कअं । पच्चेग-कालम्मि पच्चेग-समयम्मि स-पक्ख-णिरूवण पर-पक्ख-विहंडणं च जाओ। चउमुही-पडिहाए ध्सणी सूरी-सरेहिं दंसणिग-सिहंताण णिय-णिज्झरीयाए वि णिरूविआ । **अहिहाण-राजिंद-कोस-कत्ता राजिंद सूरीसरेणं च सत्त-विविह-काय-विसाल-सद्द-कोसेसु ण केवलं सद्दाणं अत्थो णिरुत्ती उद्धरणं चदिण्णो, अवि तु वेसुं सिद्धंतस्स वइरित्त-दंसणस्स विसयाणं च णिरुवणं वि अत्थि। अस्स मूलभावस्स झाणंता डा. पियदंसणा सज्झी तह डा.सुदंसणा सज्झी उहया किआ। ताहिं 'जिणदंसण वाडिगा' अंते महत्तपुण्ण-विसयाणं चयणं ण केवलं विण्णजणाणं महत्तपुण्णो अत्थि, अवि तु सामण्ण-जणाणं सावग-साविगाणं च महत्तपुण्णलदिसा-णिद्देसो वि पत्तेहिइ ।**

विस्सपुज्जो अहिहाण-राजिद-कोसो ण केवलं कोसो अत्थि अवितु सयल-विसयाणं महासमुद्दो अहा आगारो वि अत्थि ।

अस्स गंथस्स (अस्स कोसस्स) समारंभो रायट्ठाणं-पंतस्त 'सियाणा'गाये जाओ । ई सण-1890 दिवसो साहिच्च-जगए सम्मो अत्थि । अस्स णिच्छयतिहीए पण्णाणं दो दिवसस्स समायोजणं दिसाणिद्देसम्मि कारगारो होहिए । तं विणा अस्स आइरियस्स । सूरीसरस्स सूरसमदित्ती ण संभवो । जेणं पुरिसेणं णिय-अणवरय परिस्समेणं चोद्दसवास-पयासेणं ई. सण-1903 समए पुण्ण-कओ सो महादिवसो सुय-आराहणा दिवसो घोसेज्जओ तु तं पडिअम्हाणं सेट्ठभावणा भविस्सइ । जेणं साहिच्च-वागरण-णियाय-सत्थ-दंसणं च आगम-सुत्ताणं च अज्झयणं करिऊण जिण-परंपराए महणिज्ज-सेवा किएज्जा सो अम्हाण सव्वेसिं सद्दहणीया । जस्स जीवणं देदिप्पमाणो आसी तस्स साहिच्च-सव्वोवरि-सव्वोयरी सम्मदिट्ठी-जुत्त-चिंतामणि-रयण-जुत्तं अहिहाणं महासद्द-सागरं जेहिं दंसिआ या सुणिआ ते पुण्णजीवा आसी । जेहिं दंसण-वाडिगाए विविह-अणुचिंतणिज्ज-विसयाणं सरल हिंदी भासाए पदिण्णा तासि केहिं गुणेहिं केहिं सद्देहिं गुणाणुवायं किएज्जा । तासिं किय-कज्जो कइपुण्णो अत्थि । विण्णजणा, पण्णजणा एव अणुहवेज्जा । एगाओ गंहीर विसयाओ इणं संचयणं अइदुरुहो अत्थि। जे साहिच्चस्स सेव कुव्वेंति ते महापुण्णोवज्जणं कुव्वेंति। जण-जणस्स महुवयारं च कुव्वेंति ।

जिणदंसण-वाडिगा किं— वाडिगा तु लहू एव हवइ सा जइ सम्मलंकिया ण, तओ वाडिगा भवंता अवि सोहं ण पावेंति । वाडिगा सोहा गुम्म-लया-णाणा-विह- तरुहिं होंति । अस्सिं णाणाविह-जिणदंसणस्स कप्पतरु अत्थि । पडुम-तरुम्मि जिण-दंसणस्सपमुह-वियारधारा 'अणेगंत-सियादवाद-अवधारणा' अत्थि । जस्सिं पक्खवायं किमवि ठाणं ण होइ । अणेगंते अणेगे धम्माणं अणेगे वियाराणं समाण रुवे ठाणं दिएज्जा । अओ अस्स सिद्धंतस्स महत्तपुण्ण-ठाणं भारहिज्ज-दंसणिग- जगए

अत्थि । सक्कय-पाइय-णिट्ठ-महोहीहितो महि विलोलण एव अइदुक्कर- कज्जो तासुतो वि उहया **धम्मपरिपुणा-पियदंसणा एवं सुदंसणा सिरिए कहसज्झ- परिस्समस्स मुल्लंयायणं ण संभवो** । तासुतो जा पत्ता सा वि तस्स हिदीए रट्ठभासाए । अओ ताओ सद्दसीला अम्हाण ।

वीअ-वाडिगाए 'आयार-विण्णाण' अत्थि । अगाण कि सारो ? इण पण्ह च समाहाण अत्थि 'आयारो' । अहिहाण राजिद-कोसाओ उद्धरिआ एसा तासि सुत्ती सपुण्ण-आयार णिरुवेइ । त जहा—

आ मज्जाया वयणो, चरणं चारो त्ति तीए आयारो ।
सो होइ णाण-दंसण-चरित्त-तव-विरिय-वियप्पो ॥

'आ' सद्दस्स अत्थो अप्पाण, 'चा' सद्दस्स चउग्गई चउक्कसाय-विहीण- अज्झप्पपहाणचरण तहा 'र' रक्खण अत्थि । एस आयारस्स रहस्सो अत्थि । अस्सि च अत्थि— (1) अप्पचितण (2) आणापालण (3) अप्प-वीसासो तह (4) अप्पाणुभूई। अस्सि च 'दसण-णाण-चरित्ते, तव-आयारे य वीरियायारे' इमाण पचविहभावरण विथिण्ण-विवेयण चरित्त-णिट्ठ-हेउ सिक्खा दिस्सेज्जए । णिग्गथ-समणाण तहा सावगाण च एस मग्गो वीयराग पडि णेउ समत्थो । अओ अस्स 'आयार-विण्णाण' अणुचितणिज्जो—

आलोयणा-सरुवो कि? आलोयणा अप्प-अब्भितर दिट्ठी अत्थि । जस्सि एसा भावणा अत्थि—

जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे ।
जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी ॥

अस्सि च अत्थि अहिसा-सजम-तवस्स उक्किह-सत्ती । जेण पावइ मज्जाय णिरिक्खण परिक्खण च । भासिओ/णिरुविओ—

आवस्सय पडिलेहण सज्झाए भुजणा य भासा य ।
वीयारे गेलण्णे भिक्कग्गहणे पडिच्छंति ॥

जे छत्तीस-गुण-समावण्णा जाआ ते पडिदिणं आवस्सयं किरियं कुणेंति। आयारेणपवित्तेण णिय-अप्पं झाएति ।

अस्सिं च अत्थि आलोयणा सुहुमाओ सुहुमो विही । तव-अवहारणा— तवस्स मूल-झेयो/मूलोद्देसो सोहओ/विसुद्धिभावो अत्थि । जस्सिं च माणसिग-कायिग-वायिग-वासणाणं विगाराणं सोहणं सो तवो । अप्पा तवेण परिसुज्झइ। सो जोई सरुवो तवो सव्व-इट्ठीणं सिद्धि-दायगो वि । अहिहाणम्मि सूत्ती वि—

तवो जोई जीवो जोई ठाणं जोगा सुया सरीरं करीसग्गं।
कम्म एहा संजम-जोग-संति, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥

जो इसीणं पसत्थ-मग्गो अत्थि सो तवो बाहिर-अब्भिंतर-रूवे दुविहो । तेणं च अब्भिंतर-तवेणं अप्प-सुद्धि होइ । जेणं सव्वाणि मणोरहाणि सिज्झंति । अओ तवेण 'कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं' । णिय-कसायं संपेहाए धुणे । इमेण पत्तेस्सइ अप्पसत्ती, अप्पभत्ती अप्पदिढत्तं च । छंद-णिरोहेणं च अप्पा मोक्खमग्गं उवेइ । अओ पच्चक्खाण-पुव्वेणं च तवं कायव्वं । पच्चक्खाणेणं/वागेणं च इच्छाणिरोहणं च जणयइ ।

अस्सिं च तव-विवेयणम्मि समग्ग-चिंतणं अत्थि । पबुद्धाजणा सोहत्थी य अवस्सं च लाहं पत्तेहिंति ।

पडिसेवणा— पायच्चित्त-तवस्स भेएसुं च पडिसेवणा विवेयणं तावस-जणाणं अणाचरणिज्ज-कारणेहिं णिरोहिऊण आचरणेउं कारणाणं पडि अणुपेरइ । पडिसेवणा आलोयणा पडिक्कमणरूवे च अत्थि । जे वि दोसा तव-करणम्मि जाएंति ते सव्वे पडिसेवणा ।

दप्प-प्रमाद-अणाभोग-आउर-आवत्ति-संकित-सहसाकार-भय-पद्देस-विमस्सा य दस पडिसेवणा अत्थि । जाए विमुत्ति विणा सम्म-तवाराहणा ण सभवेइ ।

इमस्स विसयस्स सावग-साविगाण समण-समणीणं णाण हवेंतु । जेणं तवे अणुगय-दोसाणं णिरोहं किएज्जा ।

विणय-विसिट्ठो णयो— जिणागमम्मि विणयं धम्मस्स मूल भासेज्जइ । जीवण च मूलाहारोववहारस्स मूल-ठाणं । अओ 'विणयाओ विप्पमुक्कस्स कओ धम्मो कओ तवो' । अस्स एस उद्देसो । 'कम्मापणयणे विणयए वा अणेणं कम्मत्ति विणओ वि कम्माणं विघायणं महत्तं दिएज्जए । विणएण सयल-किलेसा वि णस्संति। इमेण जायइ (1) णमत्तं (2) अणुसासणं (3) अप्पदमणं तह (4) सीलायरणं । आयारणिट्ठाए वि विणयं होज्जा । विणयस्स णाणं दंसणं चरणं मण-वयण-कायं लोगोवयारं च भेया । अस्स अवंतरभेया वि । सव्वेसिं विवेयणं अस्सिं च अत्थि ।

इमे सड-विसया पण्णजणाण सडकिरिया अत्थि । सडेव आवस्सग-कत्तव्वा, सडेव विस्सरयणाए दव्वाणि तह सड-णाणेण जीवाणं जीवणदंसणं च भविस्सइ । इमाहि पण्णासील-समणीहि गहीर-समुद्दम्मि अवगाहण च करिऊण जा अणुवमणिहि सचय च ण केवलं किएज्जा । सव्वे जणा इमाए रम्म-वाड़िगाए अक्खय-णिहिं पत्तेस्संति सहेव तासि पडि अपुव्वसहा कहेज्जइ।

सम्मं गुरुस्स अणुयाइ-इमा व सज्झी,
सव्वे पियो वि पियसुदंसणा सि ।
णं सम्म-वायचरणं विणयं तवं च,
आलोयणा वि पडिसेवण-भावणा वि ॥

दिनाक 31-5-98
विभागाध्यक्ष-जैनविद्या एव प्राकृत विभाग
सु.वि वि , उदयपुर-313001

मंतव्य

-पं. गोविन्दराम व्यास
विद्याव्रती शास्त्र सिद्धान्त रहस्यविद् ?

श्रमण-संस्कृति की स्वाध्याय में स्वात्म-निष्ठा निराली रही है। आचार्य हरिभद्र, अभय, मलय जैसे मूर्धन्य महामतिमान्, सिद्धसेन जैसे शिरोमणि, सक्षम श्रद्धालु जिनभद्र जैसे-क्षमाश्रमणों का जीवन वाङ्मयी वरिवस्या का विशेष अङ्ग रहा है।

स्वाध्याय का शोभनीय आचार अद्यावधि हमारे यहाँ अक्षुण्ण पाया जाता है। इसीलिए स्वाध्याय एवं प्रवचन में अप्रमत्त रहने का समादेश शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है।

वस्तुतः नैतिक मूल्यों के जागरण के लिए, आध्यात्मिक चेतना के ऊर्ध्वीकरण के लिए एवं शाश्वत मूल्यों के प्रतिष्ठापन के लिए आर्याप्रवराद्वय द्वारा रचित प्रस्तुत ग्रन्थ "अभिधान राजेन्द्र कोष में, जैनदर्शन वाटिका" एक उपादेय महत्त्वपूर्ण गौरवमयी रचना है।

आत्म-अभ्युदयशीला स्वाध्याय-परायणा, सतत अनुशीलन उज्ज्वला आर्या डॉ. श्री प्रियदर्शनाजी एवं डॉ. श्री सुदर्शनाजी की शास्त्रीय-साधना सराहनीया है। इन्होंने अपने आम्नाय के आद्य-पुरुष की प्रतिभा का परिचय प्राप्त करने का प्रयास कर अपनी चारित्र-सम्पदा को वाङ्मयी साधना में समर्पिता करती हुई "विश्वपूज्य" {श्रीमद् राजेन्द्रसूरि : जीवन-सौरभ} का रहस्योद्घाटन किया है।

उक्तियाँ और सूक्त-सूक्तियाँ वाङ्मय वारिधि की विवेक वीचियाँ हैं। विद्या संस्कार विमर्शिता विगत की विवेचनाएँ हैं। विवर्द्धित-वाङ्मय की वैभवी विचारणाएँ हैं। सार्वभौम सत्य की स्तुतियाँ हैं। प्रत्येक पल की परामर्शदायिनी-पारदर्शिनी प्रज्ञा

पारमिताएँ हैं । समाज, संस्कृति और साहित्य की सरसता की छवियाँ हैं । क्रान्तदर्शी कोविदों की पारदर्शिनी परिभाषाएँ हैं । मनीषियों की मनीषा की महत्त्व प्रतिपादिनी पीपासाएँ हैं । क्रूर-काल के कौतुकों में भी आयुष्मती होकर अनागत का अवबोध देती रही हैं । ऐसी सूक्तियों को सश्रद्ध नमन करता हुआ वाग्देवता का विद्या-प्रिय विप्र होकर वाङ्मयी पूजा में प्रयोगवान् बन रहा हूँ ।

प्रस्तुत कृति 'अभिधान राजेन्द्र कोष में, सूक्ति-सुधारस' (1 से 7 खण्ड) को कोषों के कारागारों से मुक्तकर जीवन की वाणी में विशद् करने का विश्वास उपजाया है । अतः आर्यायुगल, इसप्रकार की वाङ्मयी-भारती भक्ति में भूषिता रहें एवं आत्मतोष में तोषिता होकर सारस्वत इतिहास की असामान्या विदुषी बनकर वाङ्मय के प्राङ्गण की प्रोन्नता भूमिका निभाती रहें । यही मेरा आत्मीय अमोघ आशीर्वाद है ।

इनका विद्या-विवेक योग, श्रुतों की समाराधना में अच्युत रहे, अपनी निरहङ्कारिता को अतीव निर्मला बनाता रहे और उत्तरोत्तर समुत्साह-समुन्नत होकर स्वान्तःसुख को समुल्लसित रचता रहे । यही सदाशया शोभना शुभाकांक्षा है ।

चैत्र सुदी 5 बुध, 1 अप्रेल 98
हरजी (राजस्थान) जिला- जालोर

मंतव्य

-पण्डित जयनन्दन झा
व्याकरण साहित्याचार्य, साहित्यरत्न एवं शिक्षाशास्त्री

मनुष्य विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि है । वह अपने उदात्त मानवीय गुणों के कारण सारे जीवों में उत्तरोत्तर चिन्तनशील होता हुआ विकास की प्रक्रिया में अनवरत प्रवर्धमान रहा है । उसने पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति ही जीवन का परम ध्येय माना है, पर ज्ञानीजन ने इस संसार को ही परम ध्येय न मानकर अध्यात्म ज्ञान को ही सर्वोपरि स्थान दिया है । अतः जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति में धर्म, अर्थ और काम को केवल साधन मात्र माना है ।

इसलिये अध्यात्म चिन्तन में भारत विश्व मंच पर अतिश्रद्धा के साथ प्रशंसित रहा है । इसकी धर्म सहिष्णुता अनोखी एवं मानवमात्र के लिये अनुकरणीय रही है । यहाँ वैष्णव, जैन तथा बौद्ध धर्माचार्यों ने मिलकर धर्म की तीन पवित्र नदियों का संगम 'त्रिवेणी' पवित्र तीर्थ स्थापित किया है । जहाँ सारे धर्माचार्य अपने-अपने चिन्तन से सामान्य मानव को भी मिल-बैठकर धर्मचर्चा के लिये विवश कर देते हैं । इस क्षेत्र में किस धर्म का कितना योगदान रहा है, यह निर्णय करना अल्पबुद्धि साध्य नहीं है ।

पर, इतना निर्विवाद है कि जैन मनीषी और सन्त अपनी-अपनी विशिष्ट विशेषताओं के लिये आत्मोत्कर्ष के क्षेत्र में तपे हुए मणि के समान सहस्र-सूर्य-किरण के कीर्तिस्तम्भ से भारतीय दर्शन को प्रोद्भासित कर रहे हैं, जो काल की सीमा से रहित है । जैनधर्म व दर्शन शाश्वत एवं चिरन्तन है, जो विविध आयामों से इसके अनेकान्तवाद को परिभाषित एवं पुष्ट कर रहे हैं। ज्ञान और तप तो इसकी अक्षय निधि है ।

जैनधर्म में भी मन्दिर मार्गी त्रिस्तुतिक परम्परा के सर्वोत्कृष्ट साधक जैन धर्माचार्य 'श्रीमद् राजेन्द्रसूरीश्वरजी म. सा.' अपनी

तप:साधना और ज्ञान मीमांसा से परमपूत होने के कारण सार्वकालिक सार्वजनीन वन्द्य एवं प्रात:स्मरणीय भी हैं, जिनका सम्पूर्ण जीवन सर्वजन हिताय एवं सर्वजन सुखाय समर्पित रहा है। इनका सम्पूर्ण-जीवन अथाह समुद्र की भाँति है, जहाँ निरंतर गोता लगाने पर केवल रत्न की ही प्राप्ति होती है, पर यह अमूल्य रत्न केवल साधक को ही मिल पाता है । राजेन्द्र कोष तो इनकी अक्षय शब्द मंजूषा है, जो शब्द यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है ।

ऐसे महान् मनीषी एवं सन्त को अक्षरश: समझाने के लिये डॉ. प्रियदर्शनाश्री जी एवं डॉ सुदर्शनाश्री जी साध्वी द्वय ने (1) 'अभिधान राजेन्द्र कोष में, 'सूक्ति-सुधारस' (प्रथम से सप्तम खण्ड) (2) अभिधान राजेन्द्र कोष में, 'जैन दर्शन वाटिका' तथा (3) 'विश्वपूज्य' (श्रीमद् राजेन्द्रसूरि : जीवन-सौरभ) इन अमूल्य ग्रन्थों की रचना कर साधक की साधना को अतीव सरल बना दिया है । परम पूज्या साध्वीद्वय ने इन ग्रन्थों की रचना में जो अपनी बुद्धिमत्ता एवं लेखन चातुर्य का परिचय दिया है वह स्तुत्य ही नहीं, अपितु इस भौतिकवादी युग में जन-जन के लिये अध्यात्मक्षेत्र में पाथेय भी बनेगा । मैंने इन ग्रन्थों का विहंगम अवलोकन किया है । भाषा की प्रांजलता और विषय बोध की सुगमता तो पाठक को उत्तरोत्तर अध्ययन करने में रूचि पैदा करेगी, वह सहज ही सबके लिये हृदय ग्राहिणी बनेगी । यही लेखिकाद्वय की लेखनी की सार्थकता बनेगी ।

अन्त में यहाँ यह कथन अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि 'रघुवंश महाकाव्य' रचना के प्रारम्भ में कालिदास ने लिखा है कि 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' पर वही कालिदास कवि सम्राट् कहलाये । इसीतरह आप दोनों का यह परम लोकोपकारी अथक प्रयास भौतिकवादी मानव मात्र के लिये शाश्वत शान्ति प्रदान करने में सहायक बन पायेगा । इति शुभम् ।

25-7-98

3 घ-12, मधुबन हा बो
बासनी, जोधपुर

मंतव्य

-डॉ. अखिलेशकुमार राय

साध्वीद्वय डॉ. प्रियदर्शनाश्रीजी एवं डॉ. सुदर्शनाश्रीजी द्वारा रचित प्रस्तुत पुस्तक का मैंने आद्योपान्त अवलोकन किया है । इनकी रचना "जैनदर्शन वाटिका" में श्रीमद् राजेन्द्रसूरीश्वरजी की अमर कृति "अभिधान राजेन्द्र कोष" के आधार पर अनेकान्त-स्याद्वाद, आचार, तप, विनयादि विषयों पर श्रेष्ठ व सुन्दरतम आलेखन हुआ है । ये लेख सरल एवं सुबोध भाषा में लिखे गये हैं तथा इनमें नैतिकता एवं आध्यात्मिकता का पर्याप्त पुट है । इसे एक ऐसा शिव साहित्य सम्बोधित किया जा सकता है जिससे आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा मिलती है और जीवन को उच्च एवं कल्याणकर बनाने का दिशा निर्देश मिलता है ।

अब सुहृद्जनों का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे इसे अधिक से अधिक लोगों के पठनार्थ सुलभ करायें । मैं इस महत्त्वपूर्ण रचना के लिए साध्वीद्वय की सराहना करता हूँ; इन्हें साधुवाद देता हूँ और शुभकामना प्रगट करता हूँ कि ये इसप्रकार की और भी अनेक रचनाएँ समाज को उपलब्ध करायें ।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी
दिनाक 9 अप्रेल 1998
महाराजा कॉलेज, छतरपुर (म.प्र)

ज्ञातव्य

-पण्डित हीरालाल शास्त्री
एम.ए.

'अभिधान राजेन्द्र कोष में, "जैनदर्शन वाटिका" रचना डॉ. प्रियदर्शनाश्रीजी एम.ए., पीएच.डी. एवं डॉ. सुदर्शनाश्रीजी एम.ए, पीएच.डी दोनों साध्वीप्रवरा का एक भगीरथ प्रयास है।

आज सत्साहित्य की रचनाशीलता में एक उदासीनता दृष्टिगत होती है, उसका यह समुचित उत्तर है ।

वस्तुतः यह अमृतधारा युवापीढ़ी के लिये एक सम्पूर्ण पथप्रदर्शन का दीप स्तम्भ है जहाँ से यह, विश्वसागर की भौतिक मिथ्यावादी तरङ्गों से दुखी मानव को गहन अन्धकार से मुक्ति दिलाकर एक शाश्वत शिवतट की ओर उसके पथ को आलोकित करता है ।

आज विश्व अशान्ति, तनाव एवं भौतिक मृगतृष्णा में भटक रहा है । इस ग्रन्थ में शील, सदाचार, विनय एवं नैतिक मूल्यों के मोती भरे पडे हैं ।

जीवन की ज्वलन्त गुत्थियों का समाधान इस ग्रन्थ के अध्ययन से मिल जाता है ।

अतः आज के परिप्रेक्ष्य में यह ग्रन्थ एक साहित्य सृजन की अमूल्य निधि है ।

विद्वद्जन इस प्रयास के आभारी हैं ।

इति शुभम् !

नवरात्रि
दिनांक 5 अप्रेल 1998
ज्योतिष सेवा, राजेन्द्र नगर,
जालोर

निवृत्तमान संस्कृत व्याख्याता
राज. शिक्षा-सेवा
राजस्थान

मंतव्य

-भागचन्द जैन कवाड

प्राध्यापक (अग्रवा)

*प्रस्तुत सौरभमय पुष्प '**अभिधान राजेन्द्र कोष में, जैनदर्शन वाटिका**' एक उपादेय जैनदर्शन, ज्ञान, भक्ति एव कर्म का शखनाद करने वाली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गौरवमयी रचना है । रचना की अजस्र धाराएँ एक महान् व अप्रतिम व्यक्तित्व, विश्ववन्दनीय, सन्त शिरोमणि, ज्योतिर्मय श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी म सा की अथक, अविरल साधना व आराधना का प्रतिफल है । यह एक सुनियोजित रूप से लिपिबद्ध किया हुआ आचार विज्ञान है जिसमे जीवन-निर्माण सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण चिन्तनीय विषयो यथा— विनय, सयम, ज्ञान व तप की अवधारणा आदि का विशद व व्यवस्थित अध्ययन अर्धमागधी, प्राकृत एव सस्कृत आदि भाषाओ के माध्यम से सुरूचिपूर्ण ढग से प्रस्तुत किया गया है । गुरुदेवश्री नगराज हिमालय सी विशालता व उच्चता तथा अपूर्व रत्नो के भण्डार जो है । जैनागमो के परिप्रेक्ष्य मे रचित प्रस्तुत ग्रन्थ को विदुषी प्रतिभा सम्पन्न लेखिका द्वय डॉ प्रियदर्शनाश्रीजी एम ए, पीएच-डी एव डॉ सुदर्शनाश्रीजी एम ए, पीएच-डी ने अविरल श्रम, लगन, श्रद्धा व निष्ठापरक ज्योति प्रज्ज्वलित कर राजेन्द्र कोष की अमूल्य मणियो के माध्यम से सम्पूर्ण वातावरण मे आलोक-रश्मियो को बिखेरा है । फलतः सम्पूर्ण वसुन्धरा प्रकाशयुक्त व सौरभमय हो उठेगी । मानव समाज को एक दिशा, सद् आचार व विचार की वृष्टि से बल प्राप्त होगा, जो स्तुत्य है ।*

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी
दिनाक 9 अप्रेल 1998
विजय निवास, कचहरी रोड, किशनगढ (राज)

अग्रवाल गर्ल्स कॉलेज
मदनगज (राज)

मंतव्य

-डॉ. अमृतलाल गाँधी

सात भागों में व 10000 पृष्ठों में प्रकाशित अभिधान राजेन्द्र कोष एक ऐसा विश्व कोष है, जिसमें ज्ञान-ध्यान के आराधक अनुभवी गोताखोर अनमोल रत्नों को खोज निकालते हैं । यही कार्य विदुषी साध्वीद्वय डॉ प्रियदर्शनाश्रीजी म एव डॉ. सुदर्शनाश्रीजी म ने राजेन्द्र कोष के श्रद्धा-पुष्पों को नवम उपहार के रूप में "जैनदर्शन वाटिका" 'तेरा तुझको अर्पण, क्या लागे मेरा' की भावना के साथ जनता-जनार्दन को जैनधर्म के गूढ़ सिद्धांतों को सरल भाषा में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है जो प्रशंसनीय एवं अनुमोदनीय है । ग्रन्थ मे विविध सुगन्धों से भरपूर छह अलग-अलग छोटे-बडे पुष्प है जिनमें क्रमशः अनेकान्त-स्याद्वाद, आचार-विज्ञान, आलोचना का स्वरूप, तप की अवधारणा, प्रतिसेवना का स्वरूप तथा विनय पर सारगर्भित विवेचन किया है ।

अभिधान राजेन्द्र कोष रूपी वाटिका के छह पुष्प चुनकर जैनदर्शन वाटिका के रूप मे विदुषी पूज्या साध्वीद्वय ने जो सुमनमाला गूँथी है, वह सौरभ और सौन्दर्य से विश्व जनमानस को सुसंस्कृतिमय वनने की शुभ प्रेरणा देती है ।

मै इनके इस ग्रन्थ-लेखन की मुक्त-कण्ठ से प्रशसा करता हूँ ।

दिनाक 16 अप्रेल 1998
738, नेहरू पार्क रोड,
जोधपुर (राज.)

सेवा निवृत्त प्राध्यापक,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर

पारदर्शी-परख

विश्व कीर्तिमान निर्माता
-छन्दराज 'पारदर्शि'

अनेकान्त का सिद्धान्त, स्याद्वाद निरुपण,
अभिधान राजेन्द्र का, कोष समझाता है ।
जितने भी हैं विवाद, सप्त व्यसन विषाद,
एकान्तवाद का ज्ञान, कोष समझाता है ।
जैन दर्शन महान, जिनशासन की शान,
शान्त सुधारस पान, कोष करवाता है ।
'पारदर्शी' विज्ञान भी, अनेकान्त अपनाए,
विश्व का हो कायाकल्प, कोष समझाता है ।

साधना का है आधार, धर्म-प्रेरक आचार,
अभिधान राजेन्द्र के, कोष में बताया है ।
ज्ञान कितना ही पाओ, आचार में उसे लाओ,
तभी मोक्ष-द्वार जाओ, कोष में बताया है ।
यदि हो आचारवान, मिलता मान-सम्मान,
'पारदर्शी' दुराचारी, जग भटकाया है ।
दर्शन-चारित्राचार, तपाचार-ज्ञानाचार,
वीर्याचार पाँच भेद, कोष में बताया है ।

जैन साधना का प्राण, आलोचना का विधान,
अपनी कमियाँ हमे, नजर मे आती है ।
हृदय में कोमलता, जीवन में सरलता,
अध्यात्म-पथ-पथिक, आत्मा बन जाती है ।
बोलता है कुछ और, करता है कुछ और,
दम्भ और माया वहाँ, आसन जमाती है ।
श्रमण परम्परा मे, शुद्धि-विशुद्धि का रूप,
'पारदर्शी' आलोचना, आत्म-दृष्टि लाती है ।

भारत भूमि महान, तपस्वी वीरो की खान,
विश्व गुरु पहचान, मानता जहान है ।
सभी धर्मो मे समान, तपस्या का गुणगान,
कर्मो की निर्जरा होती, पाते व्यवदान है ।
वासना और विकार, मिट जाते दुराचार,
आत्मा की विशुद्धि होती, मिलता सम्मान है ।
राजेन्द्र कोष मे पाया, तप भेद समझाया,
***'पारदर्शी'** तपाचार, जीवन का प्राण है ।*

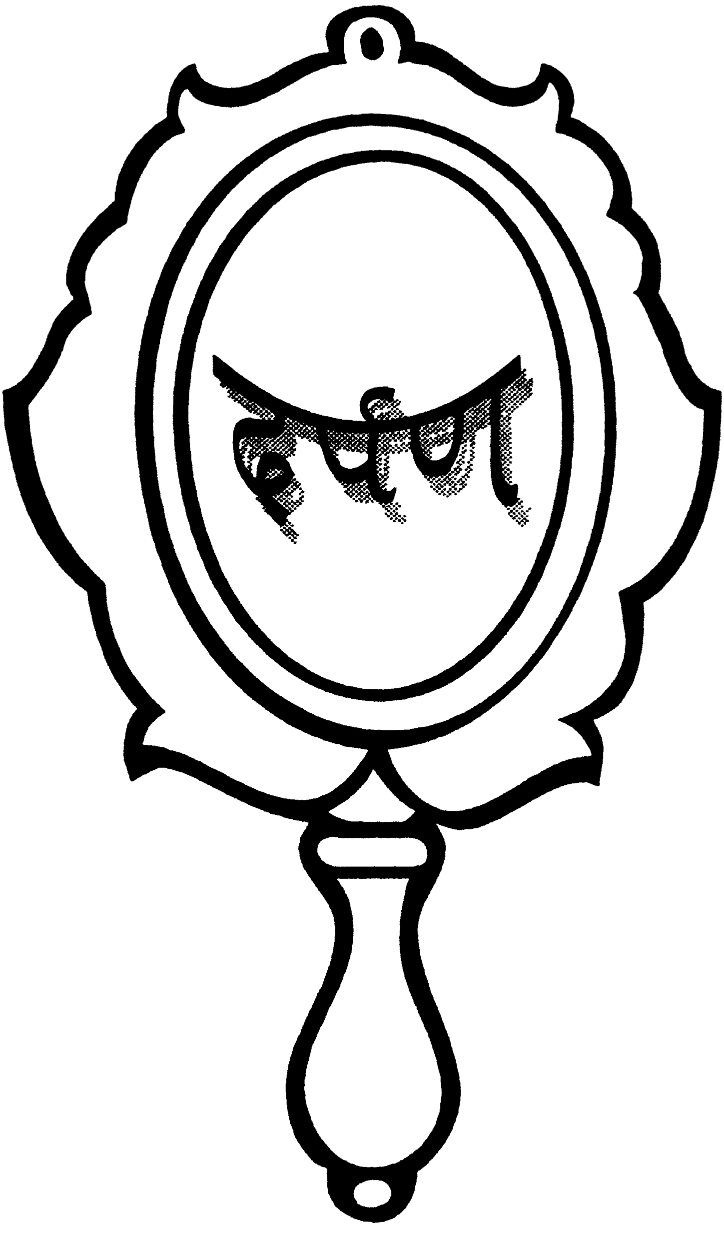
❒ ❒ ❒

सद्गुणो का आधार, जीवन का है शृङ्गार,
स्वर्ग का प्रथम द्वार, विनय कहाता है ।
सभी गुणो मे महान, विनय का गुण मान,
मिले सच्चा ज्ञान-ध्यान, कोष समझाता है ।
जीवन का जगमग, दीप है विनय गुण,
मानव बने देवता, मोक्ष-पद पाता है ।
'पारदर्शी' विनय से, सद्गति मिले हमे,
मान-सम्मान-प्रतिष्ठा, इसी भव पाता है ।

❒ ❒ ❒

तेरा साल छह माह, तीन दिन मे लिखा था,
अभिधान राजेन्द्र के, कोष को बनाया है ।
सात भागो मे विभक्त, अस्सी हजार है शब्द,
शब्दो का भण्डार देख, विश्व चकराया है ।
प्रिय-सुदर्शना श्रीजी, किया हिन्दी अनुवाद,
प्राकृत भाषा का ज्ञान, हमे समझाया है ।
जैन दर्शन वाटिका, राजेन्द्र कोष की टीका,
***'पारदर्शी'** जन-जन, देखके हर्षाया है ।*

उदयपुर (राजस्थान)


दर्पण

दर्पण

"अभिधान राजेद्र कोष में, जैनदर्शन वाटिका" ग्रन्थ के अन्तर्गत छह पुष्पों का गुम्फन किया गया है । हर पुष्प में सूत्र/गाथा/श्लोकादि अभिधान राजेन्द्र कोष के किस भाग के किस पृष्ठ से उद्धृत है, यह 'फुट नोट' में दिया गया है । फिर प्रत्येक पुष्प के अन्त में परिशिष्ट में उस सूत्र/गाथादि का आधार ग्रन्थ कौन-सा है ? उसका नाम और वह कहाँ आया है ? वह दिया है । इसप्रकार पाठक/शोधार्थी के लिये प्रत्येक पुष्प के अन्त में परिशिष्ट में उपयोगी सामग्री संजोयी गई है ।

प्रथम पुष्प : अभिधान राजेन्द्र : अनेकान्त और स्याद्वाद

जैनदर्शन की अपूर्व विशिष्ट देन : अनेकान्त-स्याद्वाद, अनेकान्वाद का माहात्म्य, पदार्थ की अनन्त धर्मात्मकता का स्वरूप, स्याद्वाद की महिमा, स्याद्वाद : अर्थ एवं स्वरूप, विभज्यवाद-स्याद्वाद, अनेकान्त-स्याद्वाद का पारस्परिक सम्बन्ध, अनेकान्त-स्याद्वाद की उपादेयता : आधुनिक सन्दर्भ में, उपसंहार ।

परिशिष्ट 1 : जैन दर्शन वाटिका में प्रयुक्त मूल सन्दर्भ ग्रन्थ

द्वितीय पुष्प : अभिधान राजेन्द्र : आचार-विज्ञान

मानव जीवन का लक्ष्य, लक्ष्य साधना, आचार : माहात्म्य एवं स्वरूप, आचार रहित ज्ञान की अनुपयोगिता, ज्ञान-क्रिया का समन्वय, 'आचार' शब्द की व्युत्पत्ति, आचार का लक्षण, आचार की परिभाषा, आचार शब्द के विविध अर्थ, आचार का रहस्य, आचार का वर्गीकरण-आचार निक्षेप के चार प्रकार, आचार के अन्य प्रकार, आचार के मुख्य पाँच भेद, पाँच आचार के अवान्तर भेद, अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि चार दोष, आचार-अनाचार, जैन परम्परा में चतुर्विध आचीर्ण (आचार), राजा आदि द्वारा निर्ग्रन्थों के आचार के विषय में जिज्ञासा, 'आचार-गोचर' की व्याख्या, जैन परम्परा में निर्ग्रन्थ/श्रमणों का आचार क्या है ? निर्ग्रन्थ/श्रमणाचार की विशेषता, अष्टादश आचार स्थान, प्रथम अहिंसा आचार, द्वितीय सत्य आचार, तृतीय अचौर्य

आचार, चतुर्थ ब्रह्मचर्य आचार, पञ्चम अपरिग्रह आचार, षष्ठम आचार रात्रि भोजन विरमणव्रत, सात से बारहवें आचार पर्यन्त षट्जीव निकाय संयम, त्रयोदश आचार : प्रथम उत्तरगुण अकल्प्यवर्जन, चतुर्दश आचार गृहस्थ के भाजन में परिभोग निषेध, पञ्चदश आचार-पर्यङ्क आदि पर सोने बैठने का निषेध, षोडश आचार-गृहनिषद्यावर्जन, अनाचार (अनाचीर्ण) का स्वरूप, शुद्ध श्रमणाचार-पालन का फल, आचार-प्रणिधि व उसका फल, अहिंसा के आचार को जीवन में चरितार्थ करने के उपाय, अष्टविध सूक्ष्म जीवों की यतना का निर्देश, आत्मा को क्रोधादि विचारों से दूर रखें, आचार-समाधि, आचार का सार, उपसंहार एवं निष्कर्ष, आचार : एक मूल्याङ्कन ।

परिशिष्ट-2 : जैन दर्शन वाटिका में प्रयुक्त मूल सन्दर्भ ग्रन्थ ।

तृतीय पुष्प : अभिधान राजेन्द्र : आलोचना

'आलोचना' शब्द की व्युत्पत्ति एवं स्वरूप, आलोचना के भेद आवश्यकीय क्रियाओं के गुरु-शिष्य दोनों निरीक्षक-परीक्षक, आलोचना किसकी साक्षी से ? आलोचना किसके पास ? आलोचनादाता की आठ दस विशिष्टताएँ, आलोचना करने योग्य कौन हो सकता है ? आलोचना के दोष, आलोचना करने न करने के कारण, आलोचना का फल ।

परिशिष्ट-3 : जैन दर्शन वाटिका में प्रयुक्त मूल सन्दर्भ ग्रन्थ ।

चतुर्थ पुष्प : अभिधान राजेन्द्र : तप

जैन वाङ्मय में तप की महिमा, वैदिक वाङ्मय में तप का स्थान बौद्ध वाङ्मय में तप की गरिमा, तप की सीमा, 'तप' शब्द की व्युत्पत्ति, तप की परिभाषाएँ तप के दो रूप, बाह्य तप का स्वरूप, बाह्य तप प्रकार 1 अनशन तप 2 ऊणोदरिका तप, उपकरण द्रव्य ऊणोदरिका भक्त पान द्रव्य ऊणोदरिका भाव कुक्कुटी, क्षेत्र ऊणोदरिका, काल ऊणोदरिका भाव ऊणोदरिका, 3. वृत्तिसंक्षेप (भिक्षाचरी) तप, 4 रस परित्याग तप 5. कायक्लेश तप, 6 प्रतिसंलीनता तप, प्रतिसंलीनता प्रकार आभ्यन्तर तप का स्वरूप आभ्यन्तर तप प्रकार, 1. प्रायश्चित्त तप 2. विनय तप 3. वैयावृत्त्य तप (सेवा), 4 स्वाध्याय तप 5 ध्यान तप 6. व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) तप तप के अन्य

प्रकार, गीता में तप के भेद, तप से विविध लाभ एवं उद्देश्य, तप : समाधि के चार भेद ।

परिशिष्ट-4 : जैन दर्शन वाटिका में प्रयुक्त मूल सन्दर्भ ग्रन्थ ।

पंचम पुष्प : अभिधान राजेन्द्र : प्रतिसेवना

प्रतिसेवना के मुख्य दो रूप, दर्पिका-कल्पिका : स्वरूप, दर्पिका-कल्पिका प्रतिसेवना के भेद ।

परिशिष्ट-5 : जैन दर्शन वाटिका में प्रयुक्त मूल सन्दर्भ ग्रन्थ ।

षष्ठम पुष्प : अभिधान राजेन्द्र : विनय

विषय-प्रवेश, 'विनय' शब्द की व्युत्पत्ति, 'विनय' शब्द के विविध अर्थ, विनय की विविध परिभाषाएँ, विभिन्न अर्थों {रूपों} में विनय का प्रयोग, अनुशासन और हित-शिक्षा के अर्थ में, शील-सदाचार के अर्थ में, आत्मदमन (संयम) के अर्थ में, विनय का वर्गीकरण, ज्ञानादि के भेद से विनय के सात प्रकार, लोकोपचार विनय के सात अवान्तर भेद, प्रकारान्तर से विनय के पाँच भेद, विनय की महिमा, धर्म का मूल विनय, ज्ञान-प्राप्ति का स्रोत : विनय, समस्त सद्गुणों का आविर्भाव-स्थल : विनय, जीवन का जगमगाता दीप : विनय, विनय की फल श्रुति : मुक्ति-प्राप्ति, उपसंहार ।

परिशिष्ट 6 : जैन दर्शन वाटिका में प्रयुक्त मूल सन्दर्भ ग्रन्थ ।

1. विश्वपूज्य प्रणीत सम्पूर्ण वाड्मय
2. लेखिका द्वय की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ



'विश्वपूज्य' : जीवन-दर्शन

जीवन-दर्शन

महिमामण्डित बहुरत्नावसुन्धरा से समलंकृत परम पावन भारतभूमि की वीर प्रसविनी राजस्थान की ब्रजधरा भरतपुर में सन् 1827-3 दिसम्बर को पौष शुक्ला सप्तमी, गुरुवार के शुभ दिन एक दिव्य नक्षत्र सन्त शिरोमणि विश्वपूज्य आचार्य श्रीमद् राजेन्द्र सूरिजी ने जन्म लिया, जिन्होंने अस्सी वर्ष की आयु तक लोक मांगल्य की गंग-धारा समस्त जगत् में प्रवाहित की ।

उनका जीवन भारतीय सस्कृति को पुनर्जीवित करने के लिए समर्पित हुआ ।

वह युग अंग्रेजी राज्य की धूमिल घन घटाओं से आच्छादित था । पाश्चात्त्य संस्कृति की चकाचौंध ने भारत की सरल आत्मा को कुण्ठित कर दिया था । नव पीढ़ी ईसाई मिशनरियों के धर्म प्रचार से प्रभावित हो गई थी । अंग्रेजी शासन में पद-लिप्सा के कारण शिक्षित युवा पीढ़ी अतिशय आकर्षित थी ।

ऐसे अन्धकारमय युग में भारतीय संस्कृति की गरिमा को अक्षुण्ण रखने के लिए जहाँ एक ओर राजा राममोहनराय ने ब्रह्मसमाज की स्थापना की, तो दूसरी ओर दयानन्द सरस्वती ने वैदिक धर्म का शङ्खनाद किया । उसी युग में पुनर्जागरण के लिए प्रार्थनासमाज और एनीबेसेन्ट ने थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना की । 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम को अंग्रेजी शासन की तोपों ने कुचल दिया था । भारतीय जनता को निराशा और उदासीनता ने घेर कर लिया था ।

जागृति का शङ्खनाद फूँकने के लिए लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने यह उद्घोषणा की- 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार

हैं ।' महामना मदनमोहन मालवीय ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की ।

श्री मोहनदास कर्मचन्द गांधी (राष्ट्रपिता महात्मा गांधी) को महान् सन्त श्रीमद् राजचन्द्र की स्वीकृति से उनके पिताश्री कर्मचन्द जी ने इंग्लैण्ड में बार-एट-लॉ उपाधि हेतु भेजा । गांधीजी ने महान् सन्त श्रीमद् राजचन्द्र की तीन प्रतिज्ञाएँ पालन कर भारत की गौरवशालिनी संस्कृति को उजागर किया । ये तीन प्रतिज्ञाएँ थीं- 1. मांसाहार त्याग 2. मदिरापान त्याग और 3. ब्रह्मचर्य का पालन । ये प्रतिज्ञाएँ भारतीय संस्कृति की रवि-रश्मियाँ हैं, जिनके प्रकाश से भारत जगद्गुरु के पद पर प्रतिष्ठित हैं; परन्तु आंग्ल शासन ने हमारी उज्ज्वल संस्कृति को नष्ट करने का भरसक प्रयास किया ।

ऐसे समय में अनेक दिव्य एवं तेजस्वी महापुरुषों ने जन्म लिया; जिनमें श्री रामकृष्णपरमहंस, स्वामी विवेकानन्द, श्री आत्मारामजी (सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्रीमद् विजयानन्द सूरिजी) एवं विश्वपूज्य श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी म. आदि हैं ।

श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी ने चरित्रनिर्माण और संस्कृति की पुनर्स्थापना के लिए जो कार्य किया, वह स्वर्णाक्षरों में अङ्कित है । एक ओर उन्होंने भारतीय साहित्य के गौरवशाली, चिन्तामणि रत्न के समान **'अभिधान राजेन्द्र कोष'** को सात खण्डों में रचकर भारतीय वाङ्मय को विश्व में गौरवान्वित किया, तो दूसरी ओर उन्होंने सरल, तपोनिष्ठ, त्याग, करुणार्द्र और कोमल जीवन से सबको मैत्री-सूत्र में गुम्फित किया ।

विश्वपूज्य की उपाधि उनको जनता जनार्दन ने उनके प्रति अगाध श्रद्धा-प्रीति और भक्ति से प्रदान की है, यद्यपि ये निर्मोही अनासक्त योगी थे । न तो किसी उपाधि-पदवी के आकांक्षी थे और न अपनी यशोपताका फहराने के लिए लालायित थे ।

उनका जीवन अनन्त ज्योतिर्मय एवं करुणारस का सुधा-सिन्धु था ।

उन्होंने अपने जीवनकाल में महनीय 61 ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें काव्य, भक्ति और संस्कृति की रसवन्ती धाराएँ प्रवाहित हैं ।

वस्तुतः उनका मूल्याङ्कन करना हमारे वश की बात नहीं, फिर भी हम प्रीतिवश यह लिखती हैं कि जिससमय भारत के मनीषी, साहित्यकार एवं कवि भारतीय संस्कृति और साहित्य को पुनर्जीवित करना चाहते थे, उससमय विश्वपूज्य भी भारत के गौरव को उद्भासित करने के लिए 63 वर्ष की आयु में सन् 1890 आश्विन शुक्ला 2 को कोष के प्रणयन में जुट गए । इस कोष के सप्त खण्डों को उन्होंने सन् 1903 चैत्र शुक्ला 13 को परिसम्पन्न किया । यह शुभ दिन भगवान् महावीर का जन्म कल्याण दिवस है । शुभारम्भ नवरात्रि में किया और समापन प्रभु के जन्म-कल्याणक के दिन वसन्त ऋतु की मनमोहक सुगन्ध बिखरते हुए किया ।

यह उल्लेख करना समीचीन है कि उस युग में मैकाले ने अंग्रेजी भाषा और साहित्य को भारतीय विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में अनिवार्य कर दिया था और नई पीढ़ी अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य को पढ़कर भारतीय साहित्य व संस्कृति को हेय समझने लगी थी, ऐसे पराभव युग में बालगंगाधर तिलक ने **गीता रहस्य,** जैनाचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरजी ने **'कर्मयोग'**, श्रीमद् आत्मारामजी ने 'जैन तत्त्वादर्श' व **अज्ञान तिमिर भास्कर**[1], महामनीषी अरविन्द घोष ने **'सावित्री'** महाकाव्य लिखकर पश्चिम-जगत् को अभिभूत कर दिया । हर्मन जैकोबी ने **द सेक्रेड बुक्स ऑफ द इस्ट** और

1 *अज्ञान तिमिर भास्कर को पढकर अंग्रेज विद्वान् हार्नेल इतने प्रसन्न हुए कि उन्होने श्रीमद् आत्मारामजी को 'अज्ञान तिमिर भास्कर' के अलङ्करण से विभूषित किया तथा उन्होने अपने ग्रन्थ 'उपासक दशाङ्ग' के भाष्य को उन्हे समर्पित किया ।*

मैक्समूलर ने वैदिक साहित्य पर भाष्य लिखे । इससे पाश्चात्त्य विद्वत् समाज भारतीय संस्कृति से अभिभूत हुआ ।

उस युग में प्रज्ञामहर्षि जैनाचार्य विश्वपूज्य श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी गुरुदेव ने **अभिधान राजेन्द्र कोष** की रचना की । उनके द्वारा निर्मित यह अनमोल ग्रन्थराज एक अमर कृति है । यह एक ऐसा विशाल कार्य था, जो एक व्यक्ति की सीमा से परे की बात थी, किन्तु यह दायित्व विश्वपूज्य ने अपने कंधों पर ओढ़ा ।

भारतीय संस्कृति और साहित्य के पुनर्जागरण के युग में विश्वपूज्य ने महान् कोष को रचकर जगत् को ऐसा अमर ग्रन्थ दिया, जो चिर नवीन है । यह **एन साइक्लोपिडिया** समस्त भाषाओं की करुणार्द्र माता संस्कृत, जनमानस में गंग-धार के समान बहने वाली जनभाषा अर्धमागधी और जनता-जनार्दन को प्रिय लगने वाली प्राकृत भाषा-इन तीनों भाषाओं के शब्दों की सुस्पष्ट, सरल और सहज व्याख्या उद्भासित करता है ।

इस महाकोष का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें गीता, मनुस्मृति, ऋग्वेद, पद्मपुराण, महाभारत, उपनिषद्, पातञ्जल योगदर्शन, चाणक्य नीति, पंचतंत्र, हितोपदेश आदि ग्रन्थों की सुबोध टीकाएँ और भाष्य उपलब्ध हैं । साथ ही आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'चरक संहिता' पर भी व्याख्याएँ हैं ।

अभिधान राजेन्द्र कोष की प्रशंसा भारतीय एवं पाश्चात्त्य विद्वान् करते नहीं थकते । इस ग्रन्थ रत्नमाला के सात खण्ड सात अनुपम दिव्य रत्न हैं, जो अपनी प्रभा से साहित्य-जगत् को प्रदीप्त कर रहे हैं ।

इस भारतीय राजर्षि की साहित्य एवं तप : साधना पुरातन ऋषि के समान थी । वे गुफाओं एवं कन्दराओं में रहकर ध्यानलीन रहते थे । उन्होंने स्वर्णगिरि, चामुण्डावन, मांगीतुंगी आदि गुफाओं

के निर्जन स्थानों में तप एवं ध्यान साधना की । ये स्थान वन्य पशुओं से भयावह थे, परन्तु इस ब्रह्मर्षि के जीवन से जो प्रेम और मैत्री की दुग्धधारा प्रवाहित होती थी, उससे हिंस्र पशु-पक्षी भी उनके पास शान्त बैठते थे और भयमुक्त हो चले जाते थे ।

ऐसे महापुरुष के चरणकमलों में राजा-महाराजा, श्रीमन्त, राजपदाधिकारी नतमस्तक होते थे । वे अत्यन्त मधुर वाणी में उन्हें उपदेश देकर गर्व के शिखर से विनय-विनम्रता की भूमि पर उतार लेते थे । वे दीन-दुखियों, दरिद्रों, असहायों, अनाथों एवं निर्बलों के लिए साक्षात् भगवान् थे ।

उन्होंने सामाजिक कुरीतियों-कुपरम्पराओं, बुराइयों को समाप्त करने के लिए तथा धार्मिक रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, मिथ्याधारणाओं और कुसंस्कारों को मिटाने के लिए ग्राम-ग्राम, नगर-नगर पैदल विहार कर विभिन्न प्रवचनों के माध्यम से उपदेशामृत की अजस्रधारा प्रवाहित की । तृष्णातुर मनुष्यों को सन्तोषामृत पिलाया । कुसम्पों के फुफकारते फणिधरों को शान्त कर समाज को सुसम्प का सुधा-पान कराया ।

विश्वपूज्य ने नारी-गरिमा के उत्थान के लिए भी कन्या पाठशालाएँ, दहेज उन्मूलन, वृद्ध-विवाह निषेध आदि का आजीवन प्रचार-प्रसार किया । **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता** के अनुरूप सन्देश दिया अपने प्रवचनों एवं साहित्य के माध्यम से ।

गुरुदेव ने पर्यावरण-रक्षण के लिए वृक्षों के संरक्षण पर जोर दिया । उन्होंने पशु-पक्षी के जीवन को अमूल्य मानते हुए उनके प्रति प्रेमभाव रखने के लिए उपदेश दिए । पर्वतों की हरियाली, वन-उपवनों की शोभा शान्ति एवं अन्तर-सुख देने वाली है । उनका रक्षण हमारे जीवन के लिए अत्यावश्यक है । इसप्रकार उन्होंने समस्त जीवराशि के संरक्षण के लिए उपदेश दिया ।

काव्य विभूषा :

उनकी काव्य कला अनुपम है । उन्होंने शास्त्रीय राग-रागिनियों में अनेक सज्झाय व स्तवन-गीत रचे हैं । उन्होंने शास्त्रीय रागों में ठुमरी, कल्याण, भैरवी, आशावरी आदि का अपने गीतों में सुरम्य प्रयोग किया है । लोकप्रिय रागिनियों में वणझारा, गरबा, ख्याल आदि प्रियङ्कर हैं । प्राचीन पूजा गीतों की लावनियों में **सलूणा, रेखता, तीरथ नी आशातना नवि करिए रे** आदि रागों का प्रयोग मनमोहक हैं । उन्होंने उर्दू की ग़ज़ल का भी अपने गीतों में प्रयोग किया है ।

चैत्यवन्दन-स्तुतियों में दोहा, शिखरणी, स्रग्धरा, मालिनी, पद्धडी प्रमुख हैं । पद्धडी छन्द में रचित श्री महावीर जिन चैत्यवन्दन की एक वानगी प्रस्तुत है-

संसार सागर तार धीर, तुम विण कोण मुझ हरत पीर ।
मुझ चित्त चंचल तुं निवार, हर रोग सोग भयभीत वार ॥[1]

एक निश्छल भक्त का दैन्य निवेदन मौन-मधुर है । साथ ही अपने परम तारक परमात्मा पर अखण्ड विश्वास और श्रद्धा-भक्ति को प्रकट करता है ।

चौपड़ क्रीड़ा सज्झाय में अलौकिक निरञ्जन शुद्धात्म-चेतन रूप प्रियतम के साथ विश्वपूज्य की शुद्धात्मा रूपी प्रिया किस प्रकार चौपड़ खेलती है ? वे कहते हैं-

रंग रसीला मारा, प्रेम पनोता मारा, सुखरा सनेही मारा साहिबा।
पिउ मोरा चोपड़ इणविध खेल हो ॥

चार चोपड़ चारों गति, पिउ मोरा चौरासी जीवा जोन हो ।
कोठा चोरासिये फिरे, पिउ मोरा सारी पासा वसेण हो ॥[2]

---

1 *जिन-भक्ति-मञ्जूषा, भाग-1*
2 *जिन-भक्ति-मञ्जूषा, भाग-1*

यह चौपड़ का सुन्दर रूपक है और उसके द्वारा चतुर्गति रूप संसार में चौपड़ का खेल खेला जा रहा है । साधक की शुद्धात्म-प्रिया चेतन रूप प्रियतम को चौपड़ के खेल का रहस्योद्घाटन करते हुए कहती है कि चौपड़ चार पट्टी और 84 खाने की होती है । इसी तरह चतुर्गति रूप चौपड़ में 84 लक्ष योनि रूप 84 घर-उत्पत्ति-स्थान होते हैं । चतुर्गति चौपड़ के खेल को जीतकर आत्मा जब विजयी बन जाती है, तब वह मोक्ष रूपी घर में प्रवेश करती है ।

अध्यात्मयोगी संत आनन्दघन ने भी ऐसी ही चौपड़ खेली है-

प्राणी मेरो, खेलै चतुरगति चोपर ।
नरद गंजफा कौन गिनत है, मानै न लेखे बुद्धिवर ॥
राग दोस मोह के पासे, आप वणाए हितधर ।
जैसा दाव परै पासे का, सारि चलावै खिलकर ॥[1]

विश्वपूज्य का काव्य अप्रयास हृदय-वीणा पर अनुगुञ्जित है । **पिउ** (प्रियतम) शब्द कविता की अंगूठी में हीरक कणी के समान मानो जड़ दिया ।

विश्वपूज्य की आत्मरमणता उनके पदों में दृष्टिगत होती है । वे प्रकाण्ड विद्वान्-मनीषी होते हुए भी अध्यात्म योगीराज आनन्दघन की तरह अपनी मस्त फकीरी में रमते थे । उनका यह पद मनमोहक है-

अवधू आतम ज्ञान में रहना,
किसी कु कुछ नहीं कहना ॥[2]

मौनं सर्वार्थ साधनम् की अभिव्यञ्जना इसमें मुखरित हुई है । उनके पदों में व्यक्ति की चेतना को झकझोर देने का सामर्थ्य है; क्योंकि वे उनकी सहज अनुभूति से निःसृत है । विश्वपूज्य का अन्तरंग व्यक्तित्व उनकी काव्य-कृतियों में व्याप्त है । उनके पदों में कबीर-सा फक्कड़पन झलकता है । उनका यह पद द्रष्टव्य है-

---

1 *आनन्दघन ग्रन्थावली*

2 *जिन-भक्ति-मञ्जूषा भाग-1*

ग्रन्थ रहित निर्ग्रन्थ कहीजे, फकीर फिकर फकनारा ।
ज्ञान वास में बसे संन्यासी, पंडित पाप निवारा रे ।
सद्गुरु ने बाण मारा, मिथ्या भरम विदारा रे ॥[1]

विश्वपूज्य का व्यक्तित्व वैराग्य और अध्यात्म के रंग में रंगा था । उनकी आध्यात्मिकता अनुभवजन्य थी । उनकी दृष्टि में आत्मज्ञान ही महत्त्वपूर्ण था । परभावों में घूमने वाला आत्मानन्द की अनुभूति नहीं कर सकता । उनका मत था कि पर पदार्थों में रमता है वह सच्चा साधक नहीं है । उनका एक पद द्रष्टव्य है-

आतम ज्ञान रमणता संगी, जाने सब मत जंगी ।
पर के भाव लहे घट अंतर, देखे पक्ष दुरंगी ॥
सोग संताप रोग सब नासे, अविनासी अविकारी ।
तेरा मेरा कुछ नहीं ताने, भंगे भवभय भारी ॥
अलख अनोपम रूप निरंजन, ध्यान हिये बिच धरना ।
दृष्टि राग तजी निज निश्चय, अनुभव ज्ञानकुं वरना ॥[2]

उनके पदों में प्रेम की धारा भी अबाध गति से बहती है । उन्होंने शांतिनाथ परमात्मा को प्रियतम का रूपक देकर प्रेम का रहस्योद्घाटन किया है । वे लिखते हैं-

श्री शांतिजी पिउ मोरा, शान्ति सुख सिरदार हो ।
प्रेमे पाम्या प्रीतड़ी, पिउ मोरा प्रीति नी रीति अपार हो ॥
शान्ति सलूणो म्हारो, प्रेम नगीनो म्हारो,
स्नेह समीनो म्हारो नाहलो ।
पिउ पल एक प्रीति पमाड हो, प्रीत प्रभु तुम प्रेम नी,
पिउ मोरा मुज मन में नहिं माय हो ॥[3]

यद्यपि उनकी दृष्टि में प्रेम का अर्थ साधारण-सी भावुक स्थिति न होकर आत्मानुभवजन्य परमात्म-प्रेम है, आत्मा-परमात्मा

---

1 *जिन-भक्ति-मञ्जूषा भाग-1*
2 *जिन-भक्ति-मञ्जूषा भाग-1*
3 *जिन-भक्ति-मञ्जूषा भाग-1*

का विशुद्ध निरूपाधिक प्रेम है । इसप्रकार, विश्वपूज्य की कृतियों में जहाँ-जहाँ प्रेम-तत्त्व का उल्लेख हुआ है, वह नर-नारी का प्रेम न होकर आत्म-ब्रह्म-प्रेम की विशुद्धता है ।

विश्वपूज्य में धर्म सद्भाव भी भरपूर था । वे निष्पक्ष, निस्पृही, मानव-मानव के बीच अभेदभाव एवं प्राणि मात्र के प्रति प्रेम-पीयूष की वर्षा करते थे । उन्होंने अरिहन्त, अल्लाह-ईश्वर, रूद्र-शिव, ब्रह्मा-विष्णु को एक ही माना है । एक पद में तो उन्होंने सर्वधर्मों में प्रचलित परमात्मा के विविध नामों का एक साथ प्रयोग कर समन्वय-दृष्टि का अच्छा परिचय दिया है । उनकी सर्व धर्मों के प्रति समादरता का निम्नांकित पद मननीय है-

ब्रह्म एक छे लक्षण लक्षित, द्रव्य अनंत निहारा ।
सर्व उपाधि से वर्जित शिव ही, विष्णु ज्ञान विस्तारा रे ॥
ईश्वर सकल उपाधि निवारी, सिद्ध अचल अविकारा ।
शिव शक्ति जिनवाणी संभारी, रूद्र है करम संहारा रे ॥
अल्लाह आतम आपहि देखो, राम आतम रमनारा ।
कर्मजीत जिनराज प्रकासे, नयथी सकल विचारा रे ॥[1]

विश्वपूज्य के इस पद की तुलना सन्त आनन्दघन के पद से की जा सकती है ।[2]

यह सच है कि जिसे परमतत्त्व की अनुभूति हो जाती है, वह संकीर्णता के दायरे में आबद्ध नहीं रह सकता । उसके लिए राम-कृष्ण, शंकर-गिरीश, भूतेश्वर, गोविन्द, विष्णु, ऋषभदेव

---

1 *जिन-भक्ति-मञ्जूषा, भाग-1 पृष्ठ-72*

2 *राम कहौ रहिमन कहौ, कोउ कान्ह कहौ महादेव री ।*
पारसनाथ कहौ कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ॥
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री ।
तैसे खण्ड कलपना रोपित, आप अखण्ड सरूप री ॥
निजपद रमै राम सो कहिये, रहम करे रहमान री ।
करषै करम कान्ह सो कहियै, महादेव निखाण री ॥
परसै रूप सो पारस कहियै, ब्रह्म चिह्नै सो ब्रह्म री ।
इहविध साध्यो आप आनन्दघन चेतनमय नि:कर्म री ॥
-आनन्दघन ग्रन्थावली, पद-65

और महादेव या ब्रह्म आदि में कोई अन्तर नहीं रह जाता है । उसका तो अपना एक धर्म होता है और वह है– आत्मधर्म (शुद्धात्म-धर्म)। यही बात विश्वपूज्य पर पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है । सामान्यतया जैन परम्परा में परमतत्त्व की उपासना तीर्थङ्करों के रूप में ही की जाती रही है; किन्तु विश्वपूज्य ने परमतत्त्व की उपासना तीर्थङ्कर की स्तुति के अतिरिक्त शंकर, शंभु, भूतेश्वर, महादेव, जगकर्ता, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, अच्युत, अचल, ब्रह्म-विष्णु-गिरीश इत्यादि के रूप में भी की है । उन्होंने निर्भीक रूप से उद्घोषणा की है–

शंकर शंभु भूतेश्वरो ललना,
मही माहें हो वली किस्यो महादेव,
जिनवर ए जयो ललना ।
जगकर्ता जिनेश्वरों ललना,
स्वयंभू हो सहु सुर करे सेव, जिन. ।
वेदध्वनि वनवासी ललना,
चौमुखे तो चारे वेद सुचंग, जिन. ।
वाणी अनक्षरी दिलवसी ललना,
ब्रह्माण्डे बीजो ब्रह्म विभंग जिनवर. ॥
पुरुषोत्तम परमातमा ललना,
गोविन्द हो गिरूवो गुणवंत, जि. ।
अच्युत अचल छे ओपमा ललना,
विष्णु हो कुण अवर कहंत, जिन. ॥
नाभेय रिषभ जिणंदजी ललना,
निश्चय थी हो देख्यो देवदमीश जिन.।
एहिज सूरिराजेन्द्रजी ललना,
तेहिज हो ब्रह्मा विष्णु गिरीश, जि. ॥[1]

वास्तव में, विश्वपूज्य ने परमात्मा के लोक प्रसिद्ध नामों का निर्देश कर समन्वय-दृष्टि से परमात्म-स्वरूप को प्रकट किया है ।

इसप्रकार कहा जा सकता है कि विश्वपूज्य ने 'धर्मान्धता, संकीर्णता, असहिष्णुता एवं कूपमण्डूकता से मानव-समाज को

---

1 *जिन-भक्ति-मञ्जूषा, भाग-1 पृ 72*

ऊपर उठाकर एकता का अमृतपान कराया । इससे उनके समय की राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थिति का भी परिचय मिलता है ।

अभिधान राजेन्द्र कोष कथाओं का सुधा-सिन्धु है । कथाओं में जीवन को सुसंस्कृत, सभ्य एवं मानवीय गुण-सम्पदा से विभूषित करने का सरस शैली में अभिलेखन हुआ है । कथाएँ इक्षुरस के समान मधुर, सरस और सहज शैली में आलेखित हैं । शैली में प्रवाह है, प्राकृत और संस्कृत शब्दों को हीरक कणियों के समान तराश कर कथाओं को सुगम बना दिया है ।

उपसंहार :

विश्वपूज्य अजर-अमर है । उनका जीवन **तप्तं तप्तं पुनरपि पुनः काञ्चनं कान्त वर्णम्** की उक्ति पर खरा उतरता है । जीवन में तप की कञ्चनता है, कवि-सी कोमलता है । विद्वत्ता के हिमाचल में से करुणा की गङ्गधारा प्रवाहित है ।

उन्होंने जगत् को **अभिधान राजेन्द्र कोष** रूपी कल्पतरू देकर इस धरती को स्वर्ग बना दिया है; क्योंकि इस कोष में ज्ञान-भक्ति और कर्मयोग का त्रिवेणी सङ्गम हुआ है । यह लोकमांगल्य से भरपूर क्षीर-सागर है । उनके द्वारा निर्मित यह कोष आज भी आकाशी ध्रुवतारे की भाँति टिमटिमा रहा है और हमें सतत दिशा-निर्देश दे रहा है ।

विश्वपूज्य के लिए अनेक अलङ्कार ढूँढने पर भी हमें केवल एक ही अलङ्कार मिलता है – वह है- अनन्वय अलङ्कार – अर्थात् विश्वपूज्य विश्वपूज्य ही है ।

उनका स्वर्गवास सन् 21 दिसम्बर 1906 में हुआ, परन्तु कौन कहता है कि विश्वपूज्य विलीन हो गये ? वे जन-जन के श्रद्धा केन्द्र सबके हृदय-मन्दिर में विद्यमान हैं ।

पुष्प–1

अभिधान राजेन्द्र : अनेकान्त और स्याद्वाद

अभिधान राजेन्द्र : अनेकान्त और स्याद्वाद

भारतवर्ष पुरातनकाल से ही दार्शनिक चिन्तकों का देश रहा है । अतः दार्शनिक जगत् में अनेकान्तवाद-स्याद्वाद की उपेक्षा नहीं की जा सकती; प्रत्येक दर्शन को किसी-न-किसी रूप में इसे अपनाना ही पड़ता है । यहाँ तक कि आइन्स्टीन जैसे वैज्ञानिक का 'सापेक्ष-सिद्धान्त' इसका अनुसरण करता है । पाश्चात्त्य दार्शनिक प्लेटो ने भी संसार में स्थित सम्पूर्ण पदार्थों को सत्-असत् में समाहित करके विश्व की विविधता को सिद्ध किया है । आधुनिक विज्ञान का 'सापेक्षता का सिद्धान्त' (थिअरी ऑफ रिलेटिविटी) भी स्याद्वाद की बुनियाद पर आधारित है । इसी तरह बौद्ध, सांख्य आदि कोई भी भारतीय दर्शन इससे अछूता नहीं रहा है । गांधीजी द्वारा समाज को प्रदत्त सर्वोदय सिद्धान्त की आधारशिला भी अनेकान्तदर्शन पर ही स्थित है ।

जैनागमों में **अनेकान्तवाद** की अवधारणा बीज रूप में मिलती है । भगवान् महावीर के द्वारा प्रस्तुत नयवाद को आधार बनाकर परवर्ती जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने जैन दर्शन के प्राणतत्त्व **अनेकान्तवाद** की स्थापना की । इनके अतिरिक्त अन्य जैन दार्शनिकों ने भी इसका काफी विकास किया । जैनदर्शन में अनेकान्तवाद-स्याद्वाद के सम्बन्ध में जितनी गहराई से विशद चिन्तन किया है और जो उसकी सूक्ष्म चर्चाएँ की हैं, वे विश्व के अन्य दर्शनों में उपलब्ध नहीं है ।

जैनदर्शन की अपूर्व विशिष्ट देन : अनेकान्त-स्याद्वा

जैनदर्शन का भव्य प्रासाद अनेकान्त-स्याद्वाद-सप्तभं पर अवस्थित है । अनेकान्त-स्याद्वाद जैनधर्म-दर्शन की ए मौलिक विशिष्ट देन है । यह ज्ञान की एक विशिष्ट पद्धति है प्रक्रिया है ।

विश्व-प्रांगण के प्रत्येक व्यवहार को विहङ्गम दृष्टि से ह देखते हैं, तब सहज ही यह प्रतीत होता है कि परवर्ती जैनाचार्य द्वारा प्रस्थापित अनेकान्त-स्याद्वाद का सिद्धान्त अपने आप सर्वप्रकारेण सम्पूर्णता से सम्पन्न है, यह निःसन्देह है, जिसे अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के नाम से पहचाना जाता है । त्रिलोक में और त्रिकाल में यह सिद्धान्त जगद्गुरु-सा रहा है, जो कि उलझनों को समाप्त कर सही दिशा में प्रवर्तमान करा सका है ।

दृष्टि तद्वत् होने पर प्रत्येक प्रवृत्ति में व्यक्ति के विचार व्यवहार एवं उच्चारण तदनुकूल ही रहते हैं । प्रत्येक प्रसंग में उसकी अपनी उपस्थिति अवश्य होती है ।

जितने भी विवादास्पद प्रश्न हैं, उन सभी का समीचीन समाधान इस अनेकान्तवाद के सिद्धान्त से सहज सम्भव हो जाता है ।

प्रत्येक पदार्थ के अनेक पहलू होते हैं, यदि उनका समुचित अध्ययन-चिन्तन-मनन नहीं किया जाता है; तो निश्चित ही ऐसा व्यक्ति आग्रही-हठाग्रही बन जाता है, जिससे कि ममत्त्वमयी दुःखद स्थिति निर्मित होती है ।

'अपनी दृष्टि ही सही है' ऐसा न मानते हुए अन्यत्र सत्य वस्तु-स्थिति को यदि स्वीकार किया जाय तो दृष्टिवादी स्वरूप स्वयं में प्रकट प्रभासमान होता है ।

इसी सन्दर्भ में अभिधान राजेन्द्र कोष में यह कहा है-

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्य परिग्रहः ॥[1]

न तो मुझे महावीर का पक्षपात है और न कपिल आदि मतों से द्वेष है । जिसका वचन युक्तिसङ्गत है, उसी के वचन को स्वीकार करना चाहिए ।

सापेक्ष दृष्टि या अनेकान्त दृष्टि से जो वस्तु स्वरूप स्थापित होता है, वही ग्राह्य है । किसी भी प्रकार से आग्रह की नागचूड़ में से अपने को निर्मुक्त करना अनेकान्त-स्याद्वाद का ध्येय है ।

यदि एक, दूसरे को झूठा नहीं कहता है तो सभी में अपनी मर्यादा तक कुछ-न-कुछ सत्यांश है । मण्डनात्मक प्रवृत्ति में अनेकान्तवाद का आमूल सहयोग रहता है, जबकि खण्डनात्मक प्रवृत्ति में सर्वदा एकान्तवाद का आधिपत्य रहता है ।

अनेकान्त-स्याद्वाद का सिद्धान्त प्रत्येक व्यवहार में भी प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है । यह आवश्यक है कि जब तक अन्य को सम्पूर्ण न समझ लिया जाय तब तक अपने आपको ही सम्पूर्ण न समझना जीवन-विकास का प्रतीक बन सकता है । सम्पूर्ण विश्व में 'ही' और 'भी' का साम्राज्य व्याप्त है । जहाँ 'ही' प्रभावशाली है, वहाँ तनाव, विवाद और अशान्ति का ही ताण्डवनृत्य दृष्टिगोचर हो रहा है, किन्तु ठीक उससे विपरीत यदि 'भी' का व्यवहार व्यवहृत रहे; तो वहाँ समाधान, शान्ति एवं उत्थान की स्थिति दृढ़ बन जाती है ।

यथा- एक समय दो अश्वारोही मार्ग तय कर रहे थे । रास्ते में एक नगर के बाहर एक वीरमानव की वीरगाथा व्यक्त करती हुई घुड़सवार की एक मूर्ति खड़ी थी । एक ने कहा- इसकी कितनी सुन्दर ढाल है जो सोने की है, दूसरे ने कहा- 'नहीं' यह तो चाँदी

---

1 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2 पृष्ठ-278*

की है । एक ने कहा- भाईसाहब । सोने की दिखती है, फिर भी आप चाँदी की क्यों कहते हैं ? दूसरे ने कहा- तुम असत्य कह रहे हो, ढाल चाँदी की ही है । दोनों ने एक दूसरे को असत्यवादी कहना प्रारम्भ कर दिया । एक कहता था कि चाँदी की है तो दूसरा कहता था सोने की । बात बढ़ गई और वे घोड़े से नीचे उतरकर मैदान में आ गए । उन्हें उलझते देखकर एक तीसरा व्यक्ति वहाँ से निकला । उसने पूछा- भाई ! क्यों उलझ रहे हो ? वे अपना पक्ष प्रस्तुत करने लगे । तब उसने कहा- दोनों लड़ते क्यों हो ? दोनों ठीक हो !

ढाल एक ओर चाँदी की व दूसरी ओर स्वर्ण की बनाई गई है । आप यदि दुराग्रहिता छोड़कर थोड़ा सोचने का प्रयत्न करते तो यह स्थिति निर्मित नहीं होती ।

ठीक वैसे ही 'ही' को पकड़कर समस्याएँ खड़ी कर दी जाती हैं, किन्तु समाधानकारक 'भी' का आश्रय नहीं लिया जाता, जो कि परमश्रेष्ठ अनेकान्त-स्याद्वाद का सिद्धान्त है ।

प्रवर्तमान विश्व की समस्याओं का कारण 'ही' है । उसमें परिवर्तन कर दिया जाने पर शान्ति और आनन्द की लहरें हिलोरें ले सकती हैं ।

परिस्थितियों का सर्जक एवं विसर्जक मानव होता है । उसीने निर्माण किया और उसको परिवर्तित भी वह आसानी से कर सकता है, परन्तु यह सम्भव तब है, जबकि अनेकान्त-स्याद्वाद की भूमिका पर सभी अपने आपको खड़ा कर दें और उसी भूमिका पर खड़े रहकर सोचा जाय, समझा जाय एवं निर्णय लिया जाय ।

अनेकान्त-स्याद्वाद के इस अनुपम सिद्धान्त को भगवान् महावीर ने प्रकाशित कर समस्त विश्व को असाधारण, अनुपम एवं अचिन्त्य देन दी है ।

अनेकान्तवाद का माहात्म्य

जैनदर्शन में अनेकान्त की महिमा दार्शनिकों ने मुक्तकण्ठ से खूब गायी है । जैनदर्शन अनेकान्त दर्शन है । वस्तुतः यह कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि अनेकान्तवाद जैनदर्शन की आत्मा है । इसी के द्वारा जैनदर्शन विश्व के समस्त कलहों को समाप्त करने का दावा कर सकता है । संसार के समूचे कलहों का मूल एकान्तवाद है, जबकि जैनदर्शन अनेकान्तमूलक है ।

समस्त विवादों-कलहों का हल निकालने के लिए, फिर वह व्यावहारिक हो या आध्यात्मिक, धार्मिक हो या सामाजिक सर्वत्र अनेकान्त की पहुँच है और उसी की असर है । इस तथ्य को दृष्टिपथ में रखते हुए आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने भी अनेकान्त को नमन किया है । वे लिखते हैं-

जेण विणा लोगस्सवि, ववहारो सव्वहाण णिघडइ ।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स ॥[1]

जिसके बिना लोक का व्यवहार सर्वथा चल ही नहीं सकता, ऐसे संसार के एकमात्र गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार हो । इसी तरह 'अनेकान्त' को दिगम्बराचार्य अमृतचन्द्र ने भी नमस्कार किया है-

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्ध-सिन्धुर विधानम् ।
सकलनय विलसितानां विरोध-मन्थनं नमाम्यनेकान्तम् ॥[2]

पदार्थ की अनन्तधर्मात्मकता का स्वरूप

इस विश्व में अनन्त वस्तुएँ हैं । प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है । अतः अनेकान्तवाद उन अनन्त धर्मों को भिन्न-भिन्न अपेक्षा से देखकर पदार्थ का सही स्वरूप समझाने की कोशिश करता है । प्रस्तुत कोष में '**अनेकान्त**' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है-

अम्यते गम्यते निश्चीयते इत्यन्तो धर्मः । न एकोऽनेकः।

---

1 *सन्मतितर्क 3/70*

2 *पुरुषार्थ सिद्धयुपाय*

अनेकाश्चाऽसावन्तश्चानेकान्तः । स आत्मा स्वभावो यस्य वस्तु जातस्यतदनेकान्तात्मकम् ।[1]

जिसके द्वारा निश्चय किया जाता है वह अन्त है और '**अन्त**' शब्द का अर्थ धर्म होता है । जिसमें अनेक धर्म पाये जाय, वह अनेकान्त है ।

अनेक धर्मयुक्त पदार्थ अनेकान्त कहलाता है और **अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्**[2]– यह जैनदर्शन का एक सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है । एक ही वस्तु में अनन्त धर्मों की सत्ता है । 'अनेकान्त' शब्द वस्तु के अनेक धर्म का उद्घोष करता है, किन्तु वस्तु के अनेक धर्मों को एक ही शब्द से एक समय में युगपद नहीं कहा जा सकता । इसीलिए जैनदर्शन में स्याद्वाद का विकास हुआ । अनेकान्त विचारधारा को स्याद्वादभाषा की निर्दोष शैली से अभिव्यक्त किया जाता है । जब यह अनेकान्तवाद स्याद्वाद की गंगा में बहता है, तब किनारे के मिथ्यावादों का स्वतः निरसन हो जाता है ।

अनन्तधर्मात्मक तत्त्व– पदार्थ अनन्तधर्मात्मक होने से एक पदार्थ को अनेक दृष्टिकोण से देख सकते हैं । सभी धर्म परस्पर विरोधी नहीं है । परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले विपरीत धर्म भी एक ही पदार्थ में विभिन्न अपेक्षाओं से निहित होते हैं । जैसाकि प्रस्तुत कोष में उदाहरण के द्वारा रोचक शैली में समझाया है । यथा- एक मनुष्य है । उपाधिभेद से उसमें अनेक धर्म हैं, अनेकों का सम्बन्ध है । उन सम्बन्धों से पुकारा जाने वाला वह किसी का पिता है तो किसी का पुत्र भी । किसी का मामा है तो किसी का भानजा भी । किसी का पितामह है तो किसी का पौत्र भी । किसी

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-423

2 तत्त्व परमार्थ भूत वस्तु, जीवाऽऽ जीव लक्षण, अनन्तधर्मात्मकमेव, अनन्तास्त्रिकाल विषयत्वाद अपरिमिता ये धर्मा सहभाविन क्रमभाविनश्च पर्यायास्त एवात्मा स्वरूप यस्य तद् अनन्तधर्मात्मकम्।
अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-425-426

का भतीजा है तो किसी का चाचा भी है [1] इत्यादि, उसमें अनेक धर्म (सम्बन्ध) होने से वह अनेक संज्ञाओं से सम्बोधित किया जाता है । देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही व्यक्ति में पुत्रत्व-पितृत्व आदि परस्पर विरोधाभासी धर्म रहे हुए हैं; किन्तु ऐसा नहीं है । वस्तुतः उसी एक में ये सभी धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षा से सन्निहित हैं ।

इसतरह विभिन्न अपेक्षा से एक ही वस्तु में विभिन्न धर्म रहते हैं । मुख्य और गौण अपेक्षा ही इसका आधार है । पदार्थ के नित्य-अनित्य, सत्-असत्, एक-अनेक इत्यादि धर्म अपेक्षा से ही कहे जा सकते हैं । बिना अपेक्षा के पदार्थ का सम्यक् स्वरूप नहीं समझा जा सकता और न ही कहा जा सकता है । प्रस्तुत कोष में **अर्पितानर्पितसिद्धेः**[2] इस सूत्र का विश्लेषण इसप्रकार किया है- वक्ता जब एक धर्म का प्रतिपादन करता है तो दूसरा धर्म गौण कर देता है और जब दूसरे धर्म को कहता है तब अन्य धर्म को गौण कर देता है । यही पदार्थ के कथन का क्रम है और यही समझने का । एक वस्तु में अपेक्षापूर्वक परस्पर विरोधी पृथक्-पृथक् धर्मों को स्वीकार करना ही सापेक्षवाद है । सत्य हमेशा बहुआयामी Multialimentional (मल्टिएलिमेन्शनल) होता है । कभी सत्य एकान्तिक तौर पर सम्पूर्ण नहीं होता । सत्य हमेशा सापेक्ष होता है ।

इसप्रकार विश्व के प्रत्येक पदार्थ में सापेक्ष रीति से अनन्तधर्म विद्यमान है । प्रस्तुत कोष में वस्तु (पदार्थ) की अनन्त धर्मात्मकता को बड़े ही रोचक ढंग से उदाहरण के माध्यम से प्रस्तुत किया है-

यथा- **घटमौलि सुवर्णार्थी, नाशोत्पाद स्थितिः स्वयम् ।**
शोकप्रमोद-माध्यस्थं, जनो याति सहेतुकम् ॥[3]

---

1 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-430*

2 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-315/316*

3 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-425*

–स्वर्ण-घट, स्वर्ण-मुकुट व स्वर्ण-क्रय करने के इच्छुक तीन व्यक्ति सोद्देश्य (अपनी-अपनी अपेक्षाओं को लेकर) स्वर्णकार के यहाँ जाते हैं । स्वर्णकार कलश को गलाकर स्वर्णमुकुट बना रहा था । उसे देखकर स्वर्णकलशार्थी शोकातुर हुआ, तो मुकुट का इच्छुक प्रसन्न, किन्तु जो मात्र स्वर्ण ही चाहता था, उसे न हर्ष हुआ और न विषाद, वह मध्यस्थ रहा । इसका कारण क्रमशः घट का नाश, मुकुट की उत्पत्ति और स्वर्ण की ध्रुवता (नित्यता) थी । इसी सन्दर्भ में एक ओर अन्य उदाहरण दिया है–

पयोव्रती न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ॥[1]

–दूधमात्र के संकल्पवाला (व्रतवाला) दही नहीं खाता है और दही की प्रतिज्ञावाला दूध नहीं पीता है एवं गोरस के व्रतवाला दूध-दही दोनों नहीं खा सकता । इसीलिए पदार्थ में तीनों गुण विद्यमान है–उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य । उपाध्याय यशोविजयजी म. ने भी अध्यात्मोपनिषद् में इसी बात को और अधिक सुस्पष्ट किया है–गोरस में दही के भाव की उत्पत्ति है, दूध के भाव का व्यय (नाश) है और गोरसत्त्व की स्थिरता (ध्रुवता) है; अतः इस तत्त्व के रहस्य को समझने वाला कोई भी मनीषी स्याद्वाद का विरोधी नहीं हो सकता ।

वास्तव में अनेकान्तदृष्टि एक ऐसी समन्वयात्मक अनूठी-अनोखी पद्धति है, जिसमें समग्र दर्शन समाहित हो जाते हैं । जैसे विभिन्न सरिताएँ सागर में समा जाती हैं इसीप्रकार अनेकान्त-स्याद्वाद रूप सागर में समग्र दर्शन रूपी सरिताएँ समा जाती हैं । सागर किसी सरिता में नहीं समाता, प्रत्युत सरिताएँ सागर में समाविष्ट हो जाती हैं । जैसाकि प्रस्तुत कोष में सब दर्शनों के प्रति एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है ।

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-425

उदधाविव सर्व सिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयि नाथ! दृष्टयः ।
न च तासु भवांन् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासुसरित्स्विवोदधि ॥[1]

उक्त श्लोक में जैनदर्शन की व्यापकता का मनोरम चित्र खींचा है । जैनेतर सम्पूर्ण धाराओं (दृष्टियों) को अनेकान्त दृष्टि से अंशमात्र बताया । इतना ही नहीं, अपितु मिथ्यादर्शनों के समूह को भी जैनदर्शन बताकर अपनी सर्वसमन्वयात्मक उदार भावना का परिचय दिया है । इस सन्दर्भ में प्रस्तुत कोष में कहा है कि विभिन्न मिथ्यादर्शनों का समूह अमृत तुल्य, क्लेशनाशक और मुमुक्षु आत्माओं के लिए सहज-सुबोध परमात्म-जिन प्रवचन का मंगल हो [2] और अनेकान्तदृष्टि से युक्त होने पर मिथ्यात्व-दर्शनों का समूह भी सम्यग्दर्शन बन जाता है ।[3] अध्यात्मयोगी सन्त आनन्दघन ने भी जैनदर्शन की व्यापकता एवं समन्वयशीलता का परिचय दिया है । इस सम्बन्ध में उनका स्पष्ट उद्घोष है-

जिनवर माँ सघला दर्शन छे, दर्शन जिनवर भजना है ।
सागर में सघली तटिनी सही, तटिनी सागर भजना रे ॥[4]

जैनदर्शन विशाल महासागर है । जिसमें अनेक सरिताओं के रूप में विभिन्न दर्शन समाहित हैं, परन्तु सरिता रूप अन्य दर्शनों में सागर रूप जैनदर्शन आंशिक रूप से समाविष्ट है ।

एकान्त और अनेकान्त में मौलिक भेद यही है कि एकान्त कथन में 'ही' का आग्रह रहता है और अनेकान्त कथन में 'भी' के सदाग्रह की प्रधानता रहती है, चूँकि 'एकान्त' को मिथ्यात्व कहा

---

1. अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-1885 एवं 1898

2 भद्दं मिच्छा दंसण-समूह महियस्स अमय सारस्स ।
जिण वयणस्स भगवओ, संविग्ग सुहाहि गम्मस्स ॥
-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-1503

3 मिच्छत्तमय समूहं सम्मत्तं ।
-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-707

4 आनन्दघन ग्रन्थावली नमि जिन स्तवन

गया है और जिनाज्ञा को **अनेकान्त** ।[1] एकान्त कथन मिथ्या है जबकि सापेक्ष कथन (अनेकान्त वचन) सत्य है ।

अनेकान्त दृष्टि चिन्तन की एक ऐसी व्यापक विचार पद्धति है, जो सर्वाङ्गीण दृष्टि प्रदान करती है । इसमें सभी दृष्टियों का समादर, समन्वय तथा वस्तु का प्रतिपादन करने की क्षमता है । इसके अतिरिक्त स्याद्वाद-अनेकान्त दृष्टि के माध्यम से बौद्धिक प्रगति तो सम्भव है ही । सहिष्णु जीवन, विश्वबन्धुत्व आदि भी सम्भव हो सकते हैं । यह निःसंदेह है कि सच्चा स्याद्वादी सहिष्णु होता है ।

स्याद्वाद की महिमा

प्रस्तुत कोष में स्याद्वाद की महिमा का भी सुन्दर, सरस चित्रांकन अलंकार युक्त है-

आदीप मा व्योम समस्वभावं ।
स्याद्वाद मुद्राऽनति भेदि वस्तु ॥[2]

स्याद्वाद का सिक्का सम्पूर्ण संसार में चलता है । छोटे से दीपक से लेकर व्यापक व्योम (आकाश) पर्यन्त सभी वस्तुएँ स्याद्वाद-अनेकान्तवाद की मुद्रा से अंकित है ।

समस्त दर्शनों का सङ्गम स्थल है स्याद्वाद । स्याद्वाद वह मधुरतम क्षीरसागर है, जहाँ पर सभी विचारधाराओं का सुमिलन होता है । जैसे सागर में सरिताएँ । स्याद्वाद सभी को संयोजित एवं समवस्थित रखने वाला एक दार्शनिक रहस्यमय रूपक भी है। अभिधान राजेन्द्र कोष में **स्याद्वाद** को नमस्कार करते हुए उसकी महत्ता पर प्रकाश डाला है-

---

1 एगन्तो मिच्छत्त, जिणाण आणाय होइऽणेगतो
अभिधान राजेन्द्र कोष, ाग-2, पृष्ठ-135

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-423

स्याद्वादाय नमस्तस्मै, यं विना सकला क्रिया ।
लोक द्वितयभाविन्यो, नैव साङ्गत्यमासते ॥[1]

लोक को दूसरे रूप में ढालने वाली सम्पूर्ण क्रियाएँ जिसके बिना साङ्गत्यता (असंवादिता) को प्राप्त नहीं होती, ऐसे उस स्याद्वाद को प्रणाम हो ।

स्याद्वाद सदा से सापेक्ष रहा है । वह उभयपक्षों को स्वीकार कर प्रतिपादन करता है । इसलिए लोक व्यवहारों में अनेकान्त दृष्टि ही संगत है ।

न केवल दार्शनिक जगत् में इसकी उपयोगिता है, प्रत्युत सामाजिक, राजनैतिक, लौकिक और धार्मिक व्यवहारों में भी इसकी अत्यधिक उपयोगिता है ।

यदि हम गहराई से अवलोकन करें तो प्रतीत होगा कि वैज्ञानिक क्षेत्र में भी स्याद्वाद की उपयोगिता सिद्ध हुई है ।

प्रस्तुत कोष में स्याद्वाद को ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग मानकर उसकी महिमा उट्टंकित है-

इच्चेयं गणिपिडगं, निच्चं दव्वट्ठियाए नायव्वं ।
पज्जाएण अणिच्चं, निच्चानिच्चं च सियवादो ॥
जो सियवायं भासति, पमाणनय पेसलं गुणाधारं ।
भावेइ से ण सयं, सोहि पमाणं पवयणस्स ॥
जो सियवायं निंदति पमाणनय पेसलं गुणाधारं ।
भावेण दुट्ठभावो, न सो पमाणं पवयणस्स ॥[2]

यह गणिपिटक (द्वादशाङ्गी) द्रव्य या तत्त्व की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय अर्थात् शब्द की अपेक्षा से अनित्य है । इस प्रकार वस्तु की नित्यानित्यता का जो प्रतिपादक है वह स्यादवाद्

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-856
2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-441

है । गणिपिटक को स्यादवाद की मुद्रा से अङ्कित किया गया है । जो प्रमाण और नय के विशिष्ट गुणों के धारक स्याद्वाद का व्याख्यान करता है अर्थात् स्याद्वाद की अपेक्षा से वस्तु स्वरूप का विवेचन करता है वह गणिपिटक भाव की अपेक्षा से नष्ट नहीं होता है और वही जिन-प्रवचन की प्रामाणिकता का आधार है । जो प्रमाण और नय के विशिष्ट गुणों के धारक स्याद्वाद की निन्दा करता है, वह भावों से दुष्टभाव वाला है । उसका कथन प्रवचन का प्रमाण नहीं हो सकता है अर्थात् उसका कथन प्रामाणिक नहीं है ।

जब कोई प्रवचनकार स्याद्वाद का खण्डन अपनी आलङ्कारिक भाषा-शैली में करता है, तो उसका थोथा प्रवचन निष्प्राण हो जाता है । स्याद्वाद इक्षुरस के समान बिना अलङ्कार और नक्काशी के चतुर श्रोताओं और पाठकों को रसासिक्त करता है, क्योंकि उसमें सहज माधुर्य और सारल्य है ।

प्रस्तुत कोष में स्याद्वाद के विषय में यहाँ तक कहा गया है कि **स्यादस्ति-स्याद्नास्ति** आदि सप्तदृष्टियों से समन्वित ऐसा स्याद्वाद द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय के बिना नहीं रह सकता ।[1]

सारांश में, अनेकान्तवाद-स्याद्वाद जैनदर्शन की एक अभूतपूर्व देन है, लेकिन आज के युग में जैनदर्शन के अनुयायियों में इसकी कमी देखी जाती है और यह न्यूनता ही जैनधर्म के ह्रास का कारण है । यह कहना उपयुक्त है कि विभिन्न मतभेदों के एकान्तिक जाल में जैन धर्मावलम्बी फँसे हुए हैं । इसीलिए वे विकास के सोपान पर चढ़ने में असफल हुए हैं । एकान्तवाद के मद की फिसलन, दुराग्रह की मृग-मरीचिका, घृणा की अंधियारी निशा में भटकते हुए वे कहाँ जा रहे हैं, इसका भान नहीं । अतः उन्हें

---

1 *स्यादस्तीत्यादिको वादः स्याद्वाद इति गीयते ।*
नयौ न च विमुच्याय, द्रव्य पर्यायवादिनौ ॥
अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-855

अनेकान्तवाद-स्याद्वाद की ज्योति में जाग्रत होकर एकता के सूत्र में पुष्पमाला के समान गुम्फित होकर उन्नति के प्रकाश-पथ पर अग्रसर होना ही श्रेयस्कर है । अनेकान्त-स्याद्वाद दर्शन ही टूटी कड़ियों को एक स्वर्णिम सूत्र में बाँधने में सक्षम है । वह स्वर्णिम सूत्र है- सौहार्द, सद्भाव और समभाव । विश्वपूज्य ने अभिधान राजेन्द्र कोष में यही मांगलिक अवधारणा की है ।

स्याद्वाद का अर्थ एवं स्वरूप

प्राकृत शैली के **सियवाय** शब्द को संस्कृत में **स्याद्वाद** कहते हैं । इसमें दो शब्द संयुक्त हैं- स्यात्+वाद, जिसका अर्थ है- **कथञ्चिद् अथवा किसी अपेक्षा से** और वाद का अर्थ- **कथन या प्रतिपादन करना ।** वह स्याद्वाद है । प्रस्तुत कोष में **स्यात्** शब्द कथञ्चिद्[1] अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, और यह **किसी अपेक्षा** अर्थ का द्योतक है । इसे ही दार्शनिक शब्दावली में **कथञ्चिद् अपेक्षा** से कहा जाता है । जिसका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है । इसके अतिरिक्त **स्याद्** शब्द आशंका के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। **आशङ्का नाम विभाषा । स्यादिति कोऽर्थः-कदाचित् भवेत् कदाचित् न भवेत्**[2]-स्यात् किसे कहते हैं ? इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार किया है-किसी अपेक्षा से होता है और किसी अपेक्षा से नहीं होता है । अतः स्याद्वाद न तो संशयवाद है और न ही अनिश्चयवाद । हिन्दी में **स्याद्** का अर्थ **शायद** किया जाता है जबकि जैनदर्शन में इसका अर्थ **कथञ्चित्** या **किसी अपेक्षा से** किया गया है । **स्याद्** का अर्थ संभावना भी नहीं है । स्याद्वाद को शायद, सम्भवतः आदि शब्दों से निरूपित नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह पदार्थ के सम्पूर्ण स्वरूप को हस्तामलकवत् बताता है । यह न तो भ्रान्तिमान् है और न सन्देहात्मक । स्याद्वाद

---

1 स्यात् कोऽर्थः-कथञ्चिद
अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, उपोद्घात पृष्ठ-2

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-856

वाणी को अमृत माना गया है, क्योंकि इससे दुराग्रह-व्याधि नष्ट हो जाती है और विश्व-शान्ति तथा मैत्री-भावना का विकास होता है। **स्याद्वाद** वसुधैव कुटुम्बकम् की आधारशिला है।

विभज्यवाद-स्याद्वाद

प्रस्तुत कोष में स्याद्वाद के लिए **विभज्यवाद** शब्द का भी प्रयोग हुआ है। यथा- **विभज्यवादः-स्याद्वादः ।**[1] विभज्यवाद का विश्लेषण करते हुए यह बताया कि विचारशील पुरूष यदि किसी विषय में असंदिग्ध हो तो भी उस विषय में अनाग्रही रहें तथा सदा विभज्यवाद (अनेकान्तवाद-भंगवाद-नयवाद) अर्थात् स्याद्वाद युक्त वचन का प्रयोग करे।[2] इसी सन्दर्भ में यह भी कहा है- **णयाऽऽसियावाय वियागरेज्जा**[3] साधक स्याद्वाद से रहित (निश्चयकारी) वचन न बोले।

अनेकान्त-स्याद्वाद का पारस्परिक सम्बन्ध

अनेकान्तवाद और **स्याद्वाद** जैनदर्शन के ये दो विशिष्ट शब्द हैं। **अनेकान्तवाद** सिद्धान्त है और **स्याद्वाद** उसके निरूपण की पद्धति। प्रस्तुत कोष में **स्याद्वाद** का विश्लेषण करते हुए प्रतिपादित किया है-

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम् । ततः स्याद्वादः अनेकान्त-वादो नित्यानित्याद्यनेक धर्मबलैक वस्त्वभ्युगम इति यावत् ।[4]

स्यात् शब्द अव्यय है और यह अनेकान्त का द्योतक है। इसलिए स्याद्वाद को अनेकान्तवाद भी कहा जाता है। **अनेकान्तवाद** का अर्थ है-एक वस्तु में अनेक विरोधी गुणों या धर्मों को स्वीकार करना और **स्याद्वाद** का अर्थ है- विभिन्न अपेक्षाओं की दृष्टि से वस्तुगत अनेक धर्मों का प्रतिपादन करना।

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1180 एव 1201

2 विभज्यवाय व वियागरेज्जा । -अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1201

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1179

4 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-423 एव भाग-7 पृष्ठ-855

स्याद्वाद, भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है, जो वस्तुतत्त्व का सम्यक् प्रतिपादन करती है । अन्य अपेक्षाओं का निषेध न करते हुए सभी अपेक्षाओं से वस्तु का प्रतिपादन करने वाली पद्धति को **स्याद्वाद** कहते हैं ।

इसतरह स्याद्वाद का शाब्दिक अर्थ है- एक ही वस्तु का भिन्न-भिन्न दृष्टिबिन्दुओं से विचार करना, देखना, निरीक्षण करना अथवा कथन करना ।

स्याद्वाद का यदि एक ही अर्थ करना चाहे तो उसे अनेकान्तवाद, अपेक्षावाद, सापेक्षवाद, कथञ्चिद्वाद, विभज्यवाद आदि कह सकते हैं, चूँकि ये सभी शब्द समानार्थकवाची हैं । यद्यपि जैन दार्शनिकों ने **स्याद्वाद** और **अनेकान्तवाद** इन दोनों शब्दों का प्रयोग तुल्य अर्थ में किया है । अतः उनमें कोई विशेष पार्थक्य प्रतीत नहीं होता । ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । जैसा कि कहा है- **अनेकान्तात्मकार्थ कथनं स्यादवादः**[1] अनेकात्मक वस्तु भाषा द्वारा प्रतिपादित करने वाली पद्धति ही स्याद्वाद है । तथापि सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन करने पर दोनों में प्रतिपाद्य प्रतिपादक सम्बन्ध परिलक्षित होता है । वस्तुतः स्याद्वाद कथन करने की एक निर्दोष भाषा पद्धति है । अतः यह वस्तु की अनेकधर्मिता का अपेक्षादृष्टि से कथन करती है ।

अनेकान्त-स्याद्वाद की उपादेयता : आधुनिक सन्दर्भ में

इसप्रकार निष्पक्षतापूर्वक कहा जा सकता है कि अनेकान्तवाद-स्याद्वाद से जैनदर्शन की विशालता, उदारता, महत्ता, व्यापकता आदि प्रकट होती है । अनेकान्तवाद के द्वारा विश्व की प्रत्येक समस्या का सही समाधान हो सकता है । सामाजिक मतभेद समाप्त होकर स्नेह-सद्भावना और सहिष्णुता की अभिवृद्धि हो सकती है ।

---

1 *लघीयस्त्रय टीका-62*

अनेकान्त-स्याद्वाद के द्वारा धर्म प्रदूषण, राजनीति प्रदूषण, साम्प्रदायिक प्रदूषण, समाज प्रदूषण आदि सहजता से समाप्त हो जाते हैं। धर्म-क्षेत्र में रूढ़िवादिता, असहिष्णुता, राजनीति क्षेत्र में भिन्न-भिन्नवाद, साम्प्रदायिक क्षेत्र में अपनेपन का व्यामोह और सामाजिक-क्षेत्र में जातिमद, धनमद, ऊँच-नीच का भेदभाव आदि इन प्रदूषणों से मानव-समाज उत्पीड़ित है।

एकान्तवाद ने देहानन्द और अहं को पनपाया है, आत्मानन्द को नकारा है, फलस्वरूप भ्रष्टाचार, स्वार्थ, नारी-उत्पीड़न, भोग-विलास, माँस-मदिरा आदि सप्तव्यसन का विष सर्वत्र फैलता जा रहा है। इसे अनेकान्तवाद-स्याद्वाद रूपी समता-रस ही मिटाने में सक्षम है। स्याद्वाद प्रेमामृत है, जो जगत् की फुलवारी को अभिसिंचित कर उसे मधुर और सुगन्धित फूल-फलों से लहलहा सकता है। स्याद्वाद जिनवाणी है, जो सकल सृष्टि को शान्ति का सुधारस पिलाकर उसे संजीवित कर सकती है।

वस्तुतः जैनदर्शन ने अनेकान्तवाद-स्याद्वाद जैसे सिद्धान्तों की संस्थापना कर मानव जीवन में पनपती हुई विषमताएँ, असहिष्णुता की बढ़ती हुई भावनाओं पर नियन्त्रण किया है। यदि आधुनिक विज्ञान की चकाचौंध में पनपने वाला मानव अनेकान्तवाद-स्याद्वाद के सिद्धान्त को अपना ले तो विश्व का कायाकल्प कुछ ही समय में हो सकता है।

उपसंहार

जगत् में एकान्तवाद के दुराग्रह से अशान्ति-विनाश हिंसा आदि के ज्वालामुखी धधक रहे हैं। शान्ति का मलय-पवन उसकी तपन मिटा सकता है। मलय-पवन के समान सुगन्धित, निर्मल जल के समान शीतल, चन्द्र ज्योत्स्ना के समान सौम्य, प्रभात की रविकिरण के समान उज्ज्वल, द्रुवा के समान लघु एवं हरा-भरा, गंगधारा के समान पावन, माता के वात्सल्य के समान प्रिय, हिमाद्रि

के समान विराट्, परमात्म-प्रेम के समान दुग्धधवल, अनेकान्तवाद-स्याद्वाद है जिसे अपनाने से विश्व, समाज, राष्ट्र और मनुष्य परमानन्द का पीयूष-पान कर शान्ति प्राप्त कर सकता है ।

अभिधान राजेन्द्र कोष में अनेकान्तवाद-स्याद्वाद का निरूपण लोकमांगल्य का पावन प्रसाद है । जैनदर्शन की यह अभिनव-मौलिक अवधारणा है, जो प्राणी-मैत्री, धर्म-सद्भाव, अभेदभाव और विश्व-कल्याण की नित्य प्रवहमान् अमृत निर्झरी है ।



प्रथम परिशिष्ट

जैन दर्शन वाटिका में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ : अध्ययन/गाथादि

पुष्प-1

पुष्प - 1

अभिधान राजेन्द्र : अनेकान्त और स्याद्वाद

पुस्तक पृष्ठ सख्या	सदर्भ क्रमाक	सदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
73	1	लोकतत्त्व निर्णय - 38 - हरिभद्र सूरि
75	1	सन्मतितर्क 3/70 - सिद्धसेन
75	2	पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय
76	1	रत्नाकरावतारिका वृत्ति 3 परिच्छेद
76	2	अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका सटीक श्लोक 22 - आचार्य हेमचन्द्र
77	1	स्याद्वादमंजरी सटीक श्लोक 24
77	2	तत्त्वार्थ सूत्र 5/31
77	3	आप्तमीमांसा 59
78	1	आप्तमीमांसा 60
79	1	द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका 4/15-सिद्धसेन
79	2	सन्मतितर्क 3/65
79	3	विशेषावश्यक भाष्य 954
79	4	आनंदघन ग्रंथावली नमि जिन स्तवन
80	1	तीत्थोगाली पयन्ना 1213
80	2	अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका-5-आचार्य हेमचन्द्र
81	1	श्री आगमीयसूक्तावल्यादि-स्थानांग सूक्तानि (13)
81	2	तीत्थोगाली पयन्ना मूल 870-871-872
82	1	उत्तराध्ययन सूत्र सटीक 1 अध्ययन

पुस्तक पृष्ठ संख्या	संदर्भ क्रमांक	संदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
83	1	रत्नाकरावतारिका वृत्ति 4 परिच्छेद
83	2	व्यवहार सूत्र वृत्ति 1 उद्देश्य
84	1	सूत्रकृतांग सूत्र सटीक 1 श्रुत.14 अध्ययन
84	2	सूत्रकृतांग 1/14/22
84	3	सूत्रकृतांग 1/14/19
84	4	स्याद्वादमंजरी कारिका - 5
85	1	लघीयस्त्रय टीका-62-अकलंक

पुष्प–2

अभिधान राजेन्द्र :
आचार-विज्ञान

अभिधान राजेन्द्र : आचार विज्ञान

आचार भारतीय साधना का प्राण है। भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान है। आचार ही धर्म का प्रेरक, प्रहरी व प्रस्तुतकर्ता है। जीवन की सार्थकता आचार में निहित है। श्री अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा गया है-**एगे चरेज्ज धम्मं**[1] भले ही कोई साथ न दे, अकेले ही, सद्धर्म का आचरण करना चाहिये। न केवल जैन वाङ्मय में अपितु उपनिषदों में भी पठित स्नातक को कुलपति प्रयाणकाल में प्रथम **धर्मं चर** यह निर्देश करते थे। तथागत बुद्ध भी आचार को प्राथमिकता देते थे। आचार के नियमों की व्याख्या अलग हो सकती है, आचार की परिभाषाएँ विभिन्न हो सकती हैं और आचार के भेद-प्रभेद भी विविध रूपों में हो सकते हैं, किन्तु **आचार** ही प्रशस्त या **श्रेष्ठ धर्म है** - इस सत्य में किंचित् भी अन्तर नहीं है। इसीलिए जैनागमों में **आयारो पढमो धम्मो** कहा गया है। मनुस्मृति में भी कहा है- **आचारः प्रथमो धर्मो, नृणां श्रेयस्करो महान्**-उत्तम आचार ही सबसे पहला धर्म है और मनुष्यों के लिए कल्याणकारी है।

भारतीय परम्परा में आचार का जो विराट् एवं व्यापक विवेचन मिलता है, वैसा अन्यत्र कहीं परिलक्षित नहीं होता। भारतीय साधना की हर साँस आचार की साँस होती है, हर चरण आचार का चरण होता है। यही कारण है कि भारत में चाहे व्यक्तिगत जीवन हो या पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन हो या धार्मिक जीवन,

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-544

सर्वत्र ही आचार की उर्मियाँ लहराती हैं, आचार का स्वर मुखरित होता है ।

मानव जीवन की विविध साधनाओं में आचार का अत्यन्त महत्त्व है । आचार जीवन को सौम्य, निर्मल, सात्त्विक एवं सर्वाङ्गपूर्ण बनाने की दिव्य साधना है । यह एक ऐसी अद्‌भुत साधना है, जिससे आध्यात्मिक परिपूर्णता की प्राप्ति होती है और अन्त में साधक जन्म-जरा-मरण के चक्र से मुक्त हो परमात्म पद की प्राप्ति करता है ।

वस्तुतः आचार साधना का मूलाधार है । इसी के सहारे मानव मुक्ति पथ पर आगे बढ़ता है । जैन मनीषा की आचार निष्ठा का केन्द्र आचारांग सूत्र है । सच पूछा जाए तो आचाराङ्ग में सम्पूर्ण जैन साधना-पद्धति प्रतिबिम्बित होती है । जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह आचार का शास्त्र है और इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय भी आचार ही है । इसमें मुख्य रूप से श्रमणाचार का ही वर्णन किया गया है ।

जैन साधना पद्धति आचार प्रधान है । जैनदर्शन के अनुसार आचार विहीन ज्ञान निरर्थक है । आचार ही मानव को मानवता के श्रेष्ठ सिंहासन पर आसीन करता है । आचारांग सूत्र तो आचार संहिता की शिक्षा मणियों एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों मे भरा पड़ा है ।

यह सच है कि विश्व के प्रत्येक धर्म, संप्रदाय अथवा समाज में आचार की अपनी परम्परा रही है और उसकी आवश्यकता तथा उपयोगिता मानी जाती रही है । यह सत्य है कि जैन धर्म में आचार के स्वरूप, भेद-प्रभेद, साधना-प्रक्रिया आदि को लेकर जितना सूक्ष्म एवं गंभीर चिन्तन किया गया है, उतना अन्य धर्मों में विरल ही है । आचार पर जैन मनीषियों ने न केवल चिन्तन ही किया, प्रत्युत उसे अपने जीवन में उतारने हेतु विशेष बल भी दिया ।

इसीलिए जैन श्रमण-संस्कृति की आचार संहिता अत्यधिक कठोरतम है । अभिधान राजेन्द्र कोष में आचार के सम्बन्ध में व्यापक चिन्तन किया गया है, जिसका उल्लेख हम अगले पृष्ठों में क्रमशः करेंगे ।

मानव जीवन का लक्ष्य

मानव जीवन का लक्ष्य क्या है और लक्ष्य की प्राप्ति कैसे संभव है? इस बात का जिसे ज्ञान नहीं है, वह व्यक्ति इधर से उधर भटकता रहता है। आचारांग सूत्र में यथार्थ ही कहा है- 'अधिकांश मनुष्यों को यह पता भी नहीं है कि मैं कौन हूँ ? मैं कहाँ से आया हूँ ? मुझे कहाँ जाना है ? आदि आदि ।[1] इसी बात को आध्यात्मिक कवि श्रीमद् रायचन्द्रजी ने गुजराती भाषा में निम्नाङ्कित शब्दों में व्यक्त किया है-

हुं कोण छुं ? क्यां थी थयो ? शुं स्वरूप छे मारूं खरूं?
कोना सम्बन्धे वलगणा छे ? राखुं के ए परिहरूं ?

लक्ष्य साधना

मानव जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है । अब प्रश्न यह उठता है कि इस लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन क्या है ? कैसे हम उस मञ्जिल तक पहुँच सकते हैं ? इस लक्ष्य की पूर्ति करने वाला श्रेष्ठ व उत्कृष्ट साधन है आचार । यद्यपि मोक्ष प्राप्ति के लिए जैन-साधना-पद्धति में त्रिविध साधन बताये गये हैं । तीन साधनों की चर्चा करते हुए आचार्य उमास्वाति ने कहा है- **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः** ।[2] तत्त्वार्थ सूत्र का यह पहला ही सूत्र है । यही समूचे जैनदर्शन का मूल है । सम्यग्दर्शन जब हो जाता है, ज्ञान भी सम्यक् होता है और तब जो आचरण किया जाता है, वह मोक्ष रूप फल को देने वाला होता है ।

---

1 आचाराग सूत्र-1-1-1

2 तत्त्वार्थ सूत्र 1-1

जैन साधना पद्धति न केवल एकान्त श्रद्धावादी है, न एकान्त ज्ञानवादी और न एकान्त क्रियावादी है । जैन साधना पद्धति में श्रद्धान, ज्ञान और आचरण इन तीनों के समन्वय से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । तथापि जैन साधना में आचार की प्रधानता को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है । ज्ञान कितना भी ऊँचा हो, यदि साथ में उसका आचरण नहीं है, तो जीवन का अभ्युत्थान नहीं हो सकता । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक् आचार (सम्यक् चारित्र) का होना नितान्त आवश्यक है, चूंकि मोक्ष का सबसे निकटवर्ती कारण सम्यक् चारित्र ही है । अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा भी है– **तस्मात् चारित्रमेव प्रधान मुक्तिकारणं**[1] इसलिए चारित्र ही मुक्ति का प्रधान कारण है । आचार के अभाव में कोरी श्रद्धा और ज्ञान से काम नहीं चल सकता । इन दोनों को क्रियात्मक रूप देने के लिए आचार का होना तो श्रद्धा व ज्ञान की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । अतः मुक्ति प्राप्ति का साधन है आचार ।

आचार का माहात्म्य एवं स्वरूप

वास्तव में जैन वाङ्मय में आचार के संबंध में जितना व्यापक, तलस्पर्शी तथा सर्वग्राही सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । आगमों में आचार की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है– **चरणाहिंतो मोक्खो**[2]– चारित्र (आचार) से ही मोक्ष होता है । इस कथन से आचार की महिमा एवं गरिमा स्पष्ट हो जाती है । आचार की अचिन्त्य महिमा का विषय बहुत ही विशाल है । अंग्रेजी की एक सूक्ति में आचार क़ा माहात्म्य दर्शाया गया है । उसमें कहा गया है – **चरित्र (आचार) ही जीवन का मुकुट है** । आचार जीवन का एक दर्पण है । इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को देखा–परखा जा सकता है । आचार जीवन को

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3, पृष्ठ-1143
2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-337

सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम बनाता है । विश्व में वही जीवन श्रेष्ठ होता है, जो आचार से चुस्त हो । आचरणहीन व्यक्ति सबके मानस में काँटे की भांति खटकता है, जबकि आचार-सम्पन्न पुरुष सर्वत्र सन्मान पाता है। आचारहीन साधना निष्प्रांण शरीर के समान है । चीन के विचारक कन्फ्यूशियस ने तो यहाँ तक कहा है कि **उत्तम व्यक्ति शब्दों से सुस्त और चारित्र से चुस्त होता है ।**

शारीरिक सौन्दर्य से आचरण का सौन्दर्य हजार-हजार गुना अच्छा है । इतना ही नहीं, आचार जीवन के अभ्युत्थान का मार्ग है । इससे आत्म-विशुद्धि तो होती ही है, साथ ही व्यक्ति का पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन भी समुन्नत एवं शक्ति सम्पन्न बनता है । अतः मानव जीवन में आचार का विशिष्ट स्थान है । अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है-**जीवाहारो भण्णइ आयारो**[1]- जीवात्मा के मूल आधार को आचार कहा गया है। इस कथन में आचार का माहात्म्य स्पष्टतः परिलक्षित होता है ।

जैन वाङ्मय आचार का विज्ञान है । प्रभु महावीर का जीवन आचार का साक्षात् जीवन्त रूप है । इसीलिए भगवान् महावीर का धर्म प्रचार प्रधान न होकर आचार प्रधान है । आचार मानव की श्रेष्ठता और निकृष्टता का थरमामीटर (मापक यंत्र) है । यह कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मानव के पास आचार, विचार और व्यवहार से बढ़कर कोई प्रमाण-पत्र नहीं है, जो उसके जीवन की सत्यता एवं यथार्थता को खोलकर रख सके । वास्तव में आचार एक ऐसा जीवंत प्रमाण-पत्र है, जिसे विश्व की कोई ताकत झुठला नहीं सकती ।

जैन परम्परा में **आचार** शब्द का अर्थ इतना व्यापक और विशाल है कि उसमें जीवन को उच्चतम शिखर पर पहुँचाने वाले समग्र साधनों का समावेश हो जाता है । भारतीय ऋषि-महर्षियों

1 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3, पृष्ठ-1343*

ने यह अनुभव सिद्ध बात कही है कि इन्द्रिय-विषयों के उपभोग से वास्तविक आनन्द नहीं मिलता । जो कुछ मिलता है, वह क्षणिक तथा दुःख रूप होता है । इसलिए सच्चा और स्थायी आनन्द तो आचार से उपलब्ध होता है, क्योंकि आचरण प्रायः स्वेच्छा से किया जाता है ।

आचार मानव जीवन के गौरव को बढ़ाने वाला है । व्यक्ति चाहे अन्य गुणों में हीन हो, लेकिन यदि वह आचारवान् है, तो वह उस गुण के द्वारा सर्वत्र ख्याति पा जाता है । यह निर्विवाद सत्य है कि भारतीय संस्कृति में आचार का स्थान सदा ऊँचा रहा, रहता है और रहेगा । इसीलिए मानव जीवन में आचार का बड़ा भारी महत्त्व है । आचार हमारे समस्त जीवन व्यवहार एवं धार्मिक आचरणों की मूल पृष्ठभूमि है ।

आचार रहित ज्ञान की अनुपयोगिता

वही मानव महामानव बन सकता है, जिसका आचार उच्च कोटि का हो । अंग्रेजी की एक पुस्तक में लिखा है- Conduct is life आचार ही जीवन है । इस वाक्य में निहित रहस्य बड़ा ही गूढ़ है । इसका गूढ़ार्थ यह है कि मानव के शरीर में जीवन कायम रखने के लिए रक्त हो, विश्व की स्थिति को समझने के लिए ज्ञान हो और वह सत्य को सम्यक्तया जानता भी हो, लेकिन यदि इनका उपयोग वह चरित्र निर्माण में न करता हो, तो उस ज्ञान और जानकारी से क्या लाभ ? जैसा कि अभिधानराजेन्द्रकोष में स्पष्ट कहा गया है- **न नाणमित्तेण कज्ज निप्फत्ति**[1]- जानकारी हासिल कर लेने मात्र से कार्य की सिद्धि नहीं हो जाती । ज्ञान और जानकारी उसीप्रकार व्यर्थ हो जायेगी, जिसप्रकार संपूर्ण खाद्य पदार्थों के विषय में जानकारी हासिल करके भी उन्हें न खाने पर भूख ज्यों की त्यों बनी रहती है ।

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-1989

इससे यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान का क्रियात्मक रूप ही आचार है और उसके अभाव में कोरा ज्ञान निरर्थक है । वस्तुतः जो ज्ञान आचार में नहीं आया, वह तो केवल मात्र एक बोझा है । इस सम्बन्ध में अभिधान राजेन्द्र कोष में अङ्कित निम्नलिखित सुभाषित मननीय है-

जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।
एवं खु णाणी चरणेण हीणो, णाणस्स भागी न हु सुग्गइए ॥[1]

जैसे चंदन का बोझा ढोने वाला गधा केवल मात्र बोझ का ही अनुभव करता है, चंदन की सौरभ से कुछ भी संबंध नहीं रखता, ठीक वैसे ही जिसने केवल जाना है, लेकिन जीवन में उसका अंशमात्र भी नहीं उतारा है, तो वह भी ज्ञान का भारवाहक मात्र ही है अर्थात् चारित्रहीन ज्ञानी का ज्ञान केवल भाररूप होता है । यही बात प्रकारान्तर से सुश्रुत में भी कही गयी है-

क्रियाविहिनाः खरवद् वहन्ति- क्रिया (आचार) हीन मानव गधे के समान मात्र ज्ञान का बोझा ढोने वाला है । पाश्चात्त्य विचारक स्वीनॉक ने भी आचार रहित ज्ञान को महत्त्व नहीं दिया है । इस सम्बन्ध में उनका कथन है- 'बिना चारित्र का ज्ञान शीशे की आँख के समान है, सिर्फ दिखलाने के लिए और एकदम उपयोगिता से रहित ।' राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का भी इस सम्बन्ध में मन्तव्य है कि 'चारित्रहीन बौद्धिक ज्ञान सुगन्धित शव के समान है ।' इसीलिए अभिधान राजेन्द्र कोष में यथार्थ ही कहा है- **ज्ञानस्य फलं विरति**[2]- ज्ञान का फल विरति है, आचार है । ज्ञान होने पर भी यदि विषयों में अनुराग बना रहा, तो वह ज्ञान यथार्थ नहीं है । शास्त्रों का ढेर सारा अध्ययन भी चरित्रहीन के लिए किस काम का ? क्या करोड़ों दीपक जला देने पर भी अंधे को कोई

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-443
2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-337

प्रकाश मिल सकता है ?[1] चरित्र (आचार) से हीन शास्त्र (ज्ञान) की अनुपयोगिता-निरर्थकता निम्न पंक्तियों में अभिव्यक्त हुई है- **चरणगुण विप्पहीणो बुड्डइ सुबहुं पि जाणंतो**[2]- जो साधक चरित्र गुण-से हीन है, वह बहुत से शास्त्र पढ़ लेने पर भी संसार समुद्र में डूब जाता है । इसके विपरीत शास्त्र का थोड़ा सा अध्ययन भी सच्चरित्र साधक के लिए प्रकाश देने वाला होता है । जिसकी आँखें खुली हैं, उसे एक दीपक भी काफी प्रकाश दे देता है । जैसा कि अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है-

अप्पं पि सुयमहीयं, पयासयं होइ चरणजुत्तस्स ।
इक्को वि जह पईवो, स चक्खुअस्सो पयासेइ ॥[3]

ज्ञान क्रिया का समन्वय

अब यहाँ ज्ञान-क्रिया के समन्वय पर भी प्रकाश डालना उपयुक्त होगा । शुद्ध आचार के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता होती है । अभिधान राजेन्द्र कोष में आगमों एवं उनके भाष्यों के आधार पर ज्ञान एवं क्रिया (आचार) की समन्विति पर सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया गया है । **नाणकिरियाहिं मोक्खो**[4]- ज्ञान एवं क्रिया मे (आचार मे) ही मोक्ष होता है । **हयनाणं कियाहीणं**[5]- आचारहीन ज्ञान नष्ट हो जाता है और ज्ञानहीन आचार नष्ट होता है । इसीलिए ज्ञान-क्रिया के समन्वय को और अधिक स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत कोष में दर्शाया गया है-

संजोग सिद्धीइ फलं वयंति, नहे (हुए) ग चक्केण रहो पयाइ ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥[6]

1 'सुबहु पि सुयमहिय, कि काही चरणविप्पहीणस्स ।
अधस्स जह पलीत्ता, दीवसय सहस्स कोडिवि ॥'
-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-442
2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6, पृष्ठ-442
3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-443
4 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3, पृष्ठ-1126
5 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-443
6 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ 443-444 एव भाग 4 पृष्ठ-1988

संयोग सिद्धि (ज्ञान क्रिया का संयोग) ही फलदायिनी होती है। एक पहिये से कभी रथ नहीं चलता। जैसे अंधा और पंगु मिलकर वन के दावानल से पार होकर नगर में सुरक्षित पहुँच गए, वैसे ही साधक भी ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही मुक्ति लाभ करता है। 'जयन्तसेन सतसई' में भी यही भाव अभिव्यक्त है–

ज्ञान सहित किरिया सदा, करती आत्मप्रकाश।
जयन्तसेन यथा गये, अंध-पंगु निज वास ॥[1]

अधिकांशतः व्यक्ति **जैनधर्म में आचार** नाम सुनकर ही चौंक उठता है, क्योंकि जैनश्रमण का आचार अत्यधिक कठोरतम होता है। किन्तु आचार क्या है ? इसे गहराई से समझना होगा।

आचार तीन अक्षरों से बना हुआ एक अत्यन्त चमत्कारी शब्द है, जो **एटमपावर** (अणुशक्ति) का काम करता है। इसमें अचिन्त्य और असीम शक्ति निहित है। आचार की शक्ति के समक्ष हजारों लाखों एटमबम धूल चाटते हैं। वस्तुतः आचार वह जादुई प्रभाव है, जो हर व्यक्ति पर अपनी छाप छोड़ देता है। कोरे विचार प्रभाव शून्य होते हैं, किन्तु आचार अपना प्रभाव सब पर डाल देता है।

यहाँ यह प्रश्न सहज उठ सकता है कि उस महान् शक्ति-आचार शक्ति अथवा नैतिक शक्ति का अर्थ क्या है ? 'आचार' से जैन मनीषियों का क्या अभिप्राय है ? और वह कितने प्रकार का है ? यद्यपि साहित्यिक जगत् में 'आचार' एक बहुत प्रचलित शब्द है। सामान्यतया आचार का अर्थ है आचरण। साधारणतः हर व्यक्ति समझ लेता है कि आचार से तात्पर्य सदाचरण से है, किन्तु जैन वाङ्मय में आचार शब्द एक व्यापक अर्थ रखता है। इसमें अनेक प्रकार की भावनाएँ सन्निहित हैं। आचार के विविध पहलूओं का सुन्दर चित्रण अभिधान राजेन्द कोष में किया गया

---

1 जयन्तसेन सतसइ पृष्ट 22

हे । उसमं व्युत्पत्तियों व परिभाषाओं क द्वारा आचार क विभिन्न गृढ़ अर्थों को ध्वनित करने की चेष्टा की गई है । उन सब पर एक विहंगम दृष्टि डालने से पता चलता है कि वहाँ 'आचार' शब्द किन-किन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है ।

'आचार' शब्द की व्युत्पत्ति

'आचार' शब्द को प्राकृत में 'आयार' कहा गया है, और संस्कृत भाषा में वह 'आचार' शब्द मे व्यवहृत हुआ है । अभिधान राजेन्द कोष में इसकी व्युत्पत्ति इसप्रकार की गई है- 'आचार' शब्द 'आ' उपसर्ग **चर गति भक्षणयोः** धातु से निर्मित है । गति भक्षणार्थक 'चर' धातु में घञ् प्रत्यय जोड़ने पर 'आचार' शब्द बनता है ।

आ-मर्य्यादया वाऽऽचारो-विहारः आचारः ।[1]
आ उपसर्ग- 'चार'-चरणं चारः । अनुष्ठाने । परिभ्रमणे ।[2]
आ मर्य्यादायां चरणं चारः मर्य्यादया काल नियमादि लक्षणया चार आचारः ।[3]

यहाँ 'आ' उपसर्ग मर्यादा क अर्थ में और 'चार' चलन क अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । काल नियमादि लक्षण म मर्यादापूर्वक चलना आचार है ।

आचार का लक्षण

अभिधान राजन्द्र कोष मं आचार क लक्षण पर प्रकाश डालते हुए कहा है-

आ मज्जाया वयणो, चरणं चारो त्ति तीए आयारो ।
सो होई नाण दंसण-चरित्ततवविरिय वियप्पो ॥[4]

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-368

2 (चार) इति चर गतिभक्षणयो भाव घञ (चर्येति) गदमद चरय धानुपसर्गे । इत्यनेन कर्मणि भावे वा यत (चरणमिति) भावे ल्युट ।

-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 3 पृष्ठ 1172

3 अभिधान राजन्द्र कोष भाग 2 पृष्ट 368

4 अभिधान राजन्द्र कोष भाग 2 पृष्ट 330 एव भाग 2 पृष्ठ 368

आचार के लक्षण के रूप में मर्यादापूर्वक चलना, मर्यादित जीवन बिताना हो सकता है और वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा वीर्य पाँच प्रकार का है । इस कथन द्वारा आचार का लक्षण **मर्यादापूर्वक चलना** सिद्ध होता है । अगर व्यक्ति अपने जीवन को मर्यादा में नहीं रखता है, तो उसका आचरण भी कदापि शुद्ध नहीं रह पाता । जैन परम्परा में जो अनुष्ठान जीवन-व्यवहार या आचरण ज्ञानादि पंचविध आचारों के अनुकूल हो, वह आचार कहलाता है और जो इनमें प्रतिकूल हो वह अनाचार ।

आचार की परिभाषा

यद्यपि साहित्यिक जगत् में 'आचार' की अभी तक कोई समुचित, सर्वमान्य और सामान्य परिभाषा स्वीकृत नहीं हुई है, तथापि अभिधान राजेन्द्र कोष में 'आचार' को जिन परिभाषाओं में बाँधने का प्रयास किया गया है, उनका संक्षेप में अवलोकन करना समीचीन होगा ।

शास्त्रीय दृष्टि से 'आचार' की परिभाषा अभिधान राजेन्द्र कोष में निम्नांकित शब्दों में अंकित है-

आचारो मोक्षार्थमनुष्ठान विशेष, इति ।
आचारः शास्त्र विहितो व्यवहार इति ॥[1]

-जो अनुष्ठान अथवा प्रवृत्ति मोक्ष के लिए हों या जो आचरण या व्यवहार अहिंसादि धर्म से सम्मत एवं शास्त्र विहित हो, वह आचार है और इसके विपरीत जो हो, वह अनाचार के अन्तर्गत समाहित हैं ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मोक्ष के लिए किया जाने वाला ज्ञानादि आसेवन रूप अनुष्ठान विशेष आचार को और शास्त्र विहित व्यवहार को 'आचार' कहते हैं ।

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-368

प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में 'आचार' की निम्न परिभाषा भी उपलब्ध होती है-

आचरणमाचारः । आचर्य्यते इति वाऽऽचारः । पूर्व पुरुषाचरिते ज्ञानाद्यासेवन विधौ ।[1]

आचर्य्यते गुण वृद्धये इत्याचारः ।[2]

'पूर्व पुरुषों के द्वारा आचरित ज्ञानादि आसेवन विधि आचार कही जाती है' तो दूसरी ओर 'गुणवृद्धि के लिए किया जाने वाला आचरण भी आचार कहलाता है ।'

आचार शब्द के विविध अर्थ-

आचार की उपर्युक्त परिभाषाओं के अतिरिक्त प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में 'आचार' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ भी पाय जाते हैं। यथा-

ज्ञानाचारादि पंचविध आचारों में मर्यादापूर्वक चलने के अर्थ में[3]

साधु समाचारी के विषय में किये जाने वाले आचरण के अर्थ में[4]

ज्ञानादि आसेवन रूप अनुष्ठान विशेष के अर्थ में[5]

श्रुतज्ञानादि विषय आसेवन रूप अनुष्ठान विशेष जो काल-अध्ययन आदि में किये जाने वाले आचरण के अर्थ में[6]

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-368

2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ 368

3 आचारो ज्ञानाचारादि पञ्चधा आमर्य्यादया वा चारो विहार आचार
-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ 368

4 आचारे साधु सामाचार्य्या विषये इति
अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 2 पृष्ठ 368

5 आचारो ज्ञानादि विषयमनुष्ठानमिति
अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 2 पृष्ठ 368

6 श्रुत ज्ञानादि विषयमनुष्ठानम कालाध्ययनादीनि आचरणीये आचारे
अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 2 पृष्ठ 368

साधुओं द्वारा आचरित ज्ञानादि आसेवन विधि के अर्थ में[1]

अनुष्ठान विशेष के अर्थ में किया जाने वाला आचरण[2] इत्यादि विभिन्न अर्थों में 'आचार' शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

इसप्रकार संक्षेप में कह सकते हैं कि 'आचार' शब्द एक नहीं, अनेक अर्थों में व्यवहृत हुआ है । कहीं पर ज्ञानादि आसेवन रूप अनुष्ठान विशेष के अर्थ में, तो कहीं पर साधु समाचारी के विषय में किये जाने वाले आचरण आदि के अर्थ में 'आचार' शब्द प्रयुक्त किया गया है । वस्तुतः आचार के जितने भी लक्षण, परिभाषाएँ, व्याख्याएँ, अर्थ आदि हैं, वे सब एक दूसरे के साथ परस्पर संलग्न हैं, पूरक हैं ।

आचार का रहस्य

आध्यात्मिक दृष्टि से आचार का रहस्य

'आ' आत्मा का

'चा' चार गति अथवा चार कषाय अथवा आत्मिक चारित्र का और

'र' रक्षा या रमण का वाचक है ।

आशय यह है कि जो आत्मा को चतुर्गति रूप भव भ्रमण में डूबने से बचाता है/रक्षण करता है, वह आचार है अथवा जो आचार आत्मा की चार कषायों से रक्षा करता है, वह आचार है अथवा जो आत्मा चारित्र में रमण करती है; वह आचार है ।

इसके अतिरिक्त आचार की शाब्दिक व्याख्या या चिन्तन इसप्रकार भी है–

---

1 साध्वाचरितो ज्ञानाद्यासेवन विधि रिति भावार्थ

–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 2 पृष्ट-368

2 आचरणमाचारोऽनुष्ठान मिति

–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 2 पृष्ट-368

1. आत्म-चिन्तन

2. आज्ञा-पालन

3. आत्म-विश्वास

4. आनन्द की प्राप्ति (आनन्दानुभूति)

ये चार जिसमें हो, वह है आचार ।

अथवा

1. आत्म-संयम

2. आत्म-जागृति

3. आत्म-निर्भरता

4. आत्म-आलोचना

ये चार जिसमें हो, वह आचार है ।

आचार का वर्गीकरण-आचार निक्षेप के चार प्रकार

अभिधान राजेन्द्र कोष में न केवल व्युत्पत्ति, परिभाषा व विभिन्न अर्थों का चित्रांकन हुआ है, अपितु आचार के भेद प्रभेदों पर भी प्रकाश डाला गया है । आचार की विविध परिभायाओं के आधार पर प्रस्तुत कोष में आचार को विभिन्न रूपों में विभक्त करने का प्रयास किया गया है । आचार का निक्षेप दृष्टि से चिन्तन करते हुए कहा है- **आचारस्य चतुर्विधो निक्षेपः । आचारस्य तु चतुर्धा निक्षेपः । स चायं नामाचारः स्थापनाचारो द्रव्याचारो भावाचारश्च ।**[1] - आचार निक्षेप चार प्रकार का है- 1. नामाचार, 2. स्थापनाचार, 3. द्रव्याचार और 4. भावाचार । नामन, धावन, वासन, शिक्षापन आदि को द्रव्याचार कहा है[2] तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य को भावाचार ।[3]

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-368

2 नामण धावण वासण सिक्खावण सुकरणाविराहीणि ।
दव्वाणि जाणि लाए दव्वायार वियाणाहि —अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-368

3 पचविह आयार पण्णत्त त जहा-णाणायार
दसणायार चरित्तायार तवायार वीरियायार ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 2 पृष्ठ 369

आचार के अन्य प्रकार

अभिधान राजेन्द्र कोष में प्रकारान्तर से आचार के अन्य भेदों का भी उल्लेख किया है । वे इसप्रकार हैं- आचार दो प्रकार का है-ज्ञानाचार और नोज्ञानाचार ।

ज्ञानाचार के भी दो भेद हैं – दर्शनाचार और नोदर्शनाचार । नोदर्शनाचार के भी दो प्रकार हैं – चारित्राचार और नोचारित्राचार। पुनः नोचारित्राचार को भी दो भागों में विभक्त किया गया है – तपाचार और वीर्याचार ।[1]

आचार के मुख्य पाँच भेद

मुख्य रूप से जैनागमों में आचरणीय वस्तुएँ पाँच बतायी गयी हैं–ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य । इसलिए संक्षेप में भावाचार के पाँच भेदों का उल्लेख करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है–

दंसण नाण चरित्ते, तव आयारे य वीरियायारे ।
एसो भावायारो, पंचविहो होइ नायव्वो ।[2]

–दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार ये पाँच प्रकार का भावाचार कहा गया है । भावाचार के पाँच भेदों के अवान्तर भेदों का भी वर्णन प्रस्तुत कोष में किया गया है ।[3] प्रशमरति में भी इन्हीं पाँच आचारों की चर्चा की गयी है ।[4]

---

1 दुविहे आयारे पण्णत्ते तं जहा-णाणायारे चेव नोणाणायारे चेव । नाणायारे दुविहे पण्णत्ते तं जहा- दंसणायारे चेव नोदंसणायारे चेव । नोदंसणायारे दुविहे पण्णत्ते तं जहा- चरित्तायारे चेव नोचरित्तायारे चेव । नोचरित्तायारे दुविहे पण्णत्ते तं जहा- तवायारे चेव वीरियायारे चेव ।
-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ट-360

2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 2 पृष्ट 368

3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 2 पृष्ट 360

4 सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोवीर्यात्मका जिनैः प्रोक्तः ।
पञ्चविधोऽयं विधिवत् साध्वाचारः समनुगम्यः ॥
-प्रशमरति 113

जब तीर्थङ्कर परमात्मा धर्मतीर्थ की स्थापना करत हे, तब सर्वप्रथम वे आचार मार्ग का ही उपदेश देते हैं अर्थात् पाँच प्रकार के आचारों की प्ररूपणा करते हैं,[1] क्योंकि आचार ही परम और चरम कल्याण का साधकतम हेतु माना गया है ।[2] 'आचाराङ्ग' द्वादशाङ्गी का प्रथम अङ्ग है । उसमें पाँच प्रकार क आचारों का विशद विवेचन उपलब्ध होता है । इन पाँच आचारां को ही साध्वाचार (श्रमणाचार) कहा गया है । श्रमण जीवन में आचरण करने योग्य मुख्यतः ये पाँच आचार हैं । ग्रंथों में कहीं पर पहले सम्यक्त्वाचार (दर्शनाचार) का उल्लेख किया गया है, तो कहीं पर पहले ज्ञानाचार का, लेकिन तत्त्वतः इनमें कोई भेद नहीं है ।

पाँच आचार के अवान्तर भेद

1. <u>ज्ञानाचार</u>– प्रथम आचार है ज्ञानाचार । सम्यक् तत्त्व का ज्ञान कराने के कारणभूत श्रुतज्ञान की आराधना करना ज्ञानाचार है अर्थात् नये ज्ञान की प्राप्ति या प्राप्त ज्ञान की रक्षा के लिए जो आचरण जरूरी है, उसे ज्ञानाचार कहते हैं ।[3] स्थूल दृष्टि म इसके आठ भेद हैं – 1. कालाचार 2. विनयाचार 3. बहुमानाचार 4. उपधानाचार 5. अनिह्नवाचार 6. व्यंजनाचार 7. अर्थाचार और 8. तदुभयाचार ।[4]

2. <u>दर्शनाचार</u>– दूसरा दर्शनाचार है । दर्शनाचार को सम्यक्त्वाचार भी कहते हैं । दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व । सम्यक्त्व

---

1 सव्वेसि आयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमया आचारागनिर्युक्ति-गाथा-8

2 आचारशास्त्र सुविनिश्चित यथा जगाद वीरो जगते हिताय य ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-376 एव 389

3 ज्ञान श्रुतज्ञान तदविषय आचार । श्रुतज्ञानविषये कालाध्ययन विनयाध्यापनाऽऽदि रूपे व्यवहार ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ 1994

4 काले विणए बहुमाण उवहाणे तह य निह्णवणे ।
वजण अत्थ तदुभए अट्ठविहो नाणमायारो ॥
—अभिधान राजेन्द्र काष भाग-4 पृष्ठ 1994

का निःशंकितादि रूप मे शुद्ध आराधना करना 'दर्शनाचार' है ।[1] इसके आठ भेद हैं– 1. निःशंकित 2. निःकांक्षित 3. निर्विचिकित्सा 4. अमूढ दृष्टि 5. उपबृंहण 6. स्थिरीकरण 7. वात्सल्य और 8. प्रभावना ।[2]

3. चारित्राचार– तीसरा आचार है चारित्राचार । आठ प्रकार के कर्मों के समूह को रिक्त बनाये, उसे कहते हैं चारित्र[3] अथवा सर्व सावद्य योग निवृत्ति रूप को चारित्र कहा गया है ।[4] पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप यह चारित्राचार है । चारित्र के पाँच प्रकार बताये गये हैं–

1. सामायिक चारित्र 2. छेदोपस्थापनीय चारित्र 3. परिहार विशुद्धि चारित्र 4. सूक्ष्मसंपराय चारित्र और 5. यथाख्यात चारित्र ।[5]

इन पाँचों चारित्रों में समिति और गुप्ति का पालन अनिवार्य होता है । इसलिए समिति-गुप्ति के पालन को ही 'चारित्राचार' की संज्ञा मे अभिहित किया गया है ।[6] इसके आठ भेद हैं[7] – 1. इर्या

---

1 आचरणमाचारो व्यवहारो दर्शन सम्यक्त्व तदाचार ।
सम्यक्त्वता व्यवहार ।
–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ-2436

2 निस्संकिय निक्कंखिय णिव्वितिगिच्छा अमूढ दिट्ठि य ।
उववूह थिरीकरणे वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥
–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-364-365 एव भाग-4 पृष्ठ- 2436

3 अष्टविध कर्मचय रिक्तीकरणाद वा चारित्रम ।
–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ट-1141

4 सर्वसावद्ययोग निवृत्ति रूप चारित्रमिति ।
–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-1141

5 त जहा सामाइय चरित्तारिया छेओवट्ठावणीय चरित्तारिया परिहार विसुद्धि चरित्तारिया सुहुमसपराय चरित्तारिया अहक्खाय चरित्तारिया य ।
–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-1152

6 चारित्रिणा समित्यादि पालनात्मके व्यवहारे
–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-1150

7 पणिधाण जोग जुत्तो पचहि समिइहिं तिहि य गुत्तीहिं ।
एस चरित्तायारो अट्ठविहो होहि नायव्वो ।
–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-1150

ममिति 2. भाषासमिति 3. एषणासमिति 4. आदानभंडमात्र निक्षेपणासमिति और 5 उच्चारप्रस्रवण खेलजल्लमिंघाण पारिष्ठापनिका ममिति 6. मन गुप्ति 7 वचन गुप्ति तथा 8. काय गुप्ति ।[1]

4. <u>तपाचार</u>– चौथा आचार है तपाचार । इच्छा निरोध रूप अनशनादि बारह प्रकार के तप का मेवन करना तप आचार है ।[2] शिष्य गुरु से पृच्छा करता है-**तवस्स कहं आयारो, कहं वा अणायारो भवति ?**[3]– तप आचार कैमा है और अनाचार कैमा है ? इसके उत्तर में कहते हैं–तपाचार के बारह भेद बतलाये गये हैं । छह प्रकार का बाह्य तप और छह प्रकार का आभ्यन्तर तप ।[4] अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रमपरित्याग, कायक्लेश व प्रति-संलीनता–ये बाह्य तपाचार हैं[5], जबकि प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और ध्यान[6]–य आभ्यन्तर तपाचार हैं ।

5. <u>वीर्याचार</u>– पाँचवा आचार है वीर्याचार । **वीर्यं इति वीर्याचारः । 'वीरियं णाम शक्तिः'** ।[7] –वीर्य यानि आत्म शक्ति । अपनी शक्ति का गोपन न करते हुए उपर्युक्त चारों आचारों

---

1 *अट्ठपवयणमायाओ समिती गुत्ती तहव य ।*
पचेव य समिइओ तओ गुत्तीओ आहिया ॥
इरियाभासेसणादाणे उच्चारे समिइ इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती य अट्ठमा ॥
–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5 पृष्ट 186

2 *द्वादशविध तपो विशेषानुष्ठित आचार भेद*
तप आचारस्तु द्वादशविध वाह्याभ्यन्तर तप षटद्वय भदात
–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 4 पृष्ट 220

3 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ 2208*

4 *बारसविहम्मि वि तव सब्भितर बाहिर कुसल दिट्ठ ।*
अगिलाए अणाजीवी नायव्वो सो तवायारो ।
–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 4 पृष्ठ 2207 2208

5 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 4 पृष्ठ 2200 2208*

6 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ 2207 2208*

7 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 6 पृष्ट 1109*

क पालन में आत्मशक्ति का उपयोग करना यह वीर्याचार है ।[1] इसके छत्तीस भेद हैं । ज्ञानाचार के आठ भेद, दर्शनाचार के आठ भेद, चारित्राचार के आठ भेद और तपाचार के बारह भेद, ये सब मिलकर छत्तीस भेद होते हैं और छत्तीस भेद वीर्याचार के कहे गये हैं ।[2] पाँच आचारों के प्रत्येक भेद-प्रभेदों पर विस्तृत विवेचना अभिधान राजेन्द्र कोष में यथास्थान व्यवस्थित रूप से स्व स्व शब्द पर की गयी है ।

अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि चार दोष

आचार-अनाचार के स्वरूप को समझने के पूर्व अतिक्रम, व्यतिक्रम व अतिचार दोषों पर भी किंचित् प्रकाश डालना अप्रासंगिक नहीं होगा । अभिधान राजेन्द्र कोष में आधाकर्मी आहार को आश्रित करके अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार दोषों का निरूपण किया गया है-[3]

आहाकम्म निमंतण, पडिसुणमाणो अतिक्को होई ।
पयभेयाइ वइक्कम गहिए तइओ तरो गिलिए ॥[4]

-आधाकर्मी आहार आदि के निमन्त्रण को सुनना 'अतिक्रम'[1]

---

1 *अणिगूहिय बलवीरियो परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्ता ।*
जुजइ य जहा थाम णायव्वो वीरियायारो ॥
-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1409

2 *णाणे दसण चरण तावच्छत्तीसही य भेदेसु ।*
विरिय ण तु होवज्जा सट्ठाणारावणा वत ॥
अट्ठविहो णाणाऽऽयारो दसणाऽऽयारा वि अट्ठविहो ।
चरित्ताऽऽयारा वि अट्ठविहा तवाऽऽयारा बारसविहो ॥
एत समुदिता छत्तीस भवन्ति । एतेसु छत्तीस तिसु भेदेसु वीरिय ॥
-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1409

3 *अतिक्रम व्यतिक्रमादय साधुक्रियोल्लघन रूपास्तत्रातिक्रमस्याधाकर्माश्रित्य स्वरूपमित्थम् ।*
-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ-2

4 *एतेषु अतिक्रमादिषु उत्तरोत्तर दोषाधिक्य पायश्चित्ताधिक्यात आधाकर्म्मणा निमन्त्रित सन य पतिश्रुणोति सोऽतिक्रमे वर्तते तदगहण निमित्त पदभेद कुर्वन व्यतिक्रमे गृहणानोऽतीचारे भुञ्जानोऽनाचारे ।*
एवमन्यदपि परिहारस्थानमधिकृत्यातिक्रमादयो ज्ञापनीया ।
-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ-8

है और उसे ग्रहण करने के निमित्त अपने निवास से बाहर पैर रखना 'व्यतिक्रम'[2] है तथा गृहस्थ के घर पहुँचकर आधाकर्मी आहार ग्रहण करना 'अतिचार'[3] है और उस आहार को खा लेना 'अनाचार'[4] कहलाता है ।

इसप्रकार सभी औद्देशिक (अर्थात् साधु के निमित्त तैयार किया हुआ पदार्थ) आदि वस्तुओं में उपर्युक्त चारों दोष लगते हैं । इससे यह स्पष्ट जाहिर होता है कि इन अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार व अनाचार दोषों में उत्तरोत्तर दोष की अधिकता है, क्योंकि एक से दूसरे का प्रायश्चित्त अधिक है । इस संदर्भ में यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि 'इसप्रकार का चिन्तन मूलगुण व उत्तर गुणों में करना चाहिये ।[5] संक्षेप में कह सकते हैं कि अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार व अनाचार ये चारों व्रत की मर्यादा भंग करने के प्रकार हैं ।

आचार-अनाचार

समृचे ज्ञान का सार आचार है । चारित्र धर्म का भलीभाँति पालन करने के लिए जो मौलिक नियम निर्धारित किये जाते हैं, उनका नाम है आचार ! उस आचार के बिना श्रमण वर्ग के पाँच महाव्रतों का पालन सम्यक् प्रकार से नहीं हो सकता । वस्तुतः श्रमण के त्याग रूपी प्रासाद का प्रमुख आधार स्तंभ है 'आचार' ।

---

1 अतिलङ्घने, विनाशे साधुक्रियोल्लघने
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-2

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-2

3 अतिचरणमतिचार । ग्रहणतो व्रतस्यातिक्रमणे चारित्रस्खलने विशेषे, देशभङ्गहेतौ आत्मनोऽशुभे परिणामविशेषे
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-8

4 आचरणमाचार , आधाकर्मादि परिहरण परिष्ठापनरूपोऽनाचाराऽनाचार । आधाकर्मादिग्रहणे । साध्वाचारस्य परिभोगतोध्वसे । आचरणीय श्रावकाणामाचार , न आचारोऽनाचार ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1 पृष्ठ-311

5 एव भावना मूलगुणेषु उत्तरगुणषु च कार्या । अत्राय विवेक ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ-2

जिस साधक में धैर्य होता है, वही साधक आचार और अनाचार के भेद को समझ सकता है। एक ओर 'आचार' धर्म अथवा कर्त्तव्य है, तो दूसरी ओर अनाचार अधर्म अथवा अकर्त्तव्य। जो आचार मोक्ष साधना के लिए उपयोगी है और जिसमें अहिंसा की प्रधानता है, वही सही माने में आचार है और इसके विपरीत जिसमें इनका अभाव है, वह अनाचार है। आचार के पालन में सुस्थिरता आती है, जबकि अनाचार में अस्थिरता।

जैन परम्परा में चतुर्विध आचीर्ण (आचार)

जैनपरम्परा में आचार को 'आचीर्ण' और अनाचार को 'अनाचीर्ण' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। आचीर्ण और अनाचीर्ण- ये दोनों जैन परम्परा के पारिभाषिक शब्द हैं। आचीर्ण, आचार, कल्प ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। आचीर्ण (आचार) चार प्रकार का है - 1. द्रव्याचीर्ण, 2. क्षेत्राचीर्ण, 3. कालाचीर्ण और 4. भावाचीर्ण। भावाचीर्ण-भावाचार ज्ञान-दर्शनादि पंचविध हैं और उनके प्रतिपादक आचार ग्रन्थ भी आचार कहे जाते हैं।[1]

अभिधानराजेन्द्रकोष में श्रमण जीवन की आचार संहिता का सुन्दर, सरस व सहज निरूपण हुआ है। श्रमणाचार की जितनी भी प्रमुख बातें हैं, उन सभी का विस्तृत संकलन कोष निर्माता ने यथास्थान किया है। श्रमण जीवन की आचार संहिता के पीछे मुख्य रूप से अहिंसा, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य का दृष्टिकोण प्रधान है।

राजा आदि द्वारा निर्ग्रन्थों के आचार के विषय में जिज्ञासा

जैन श्रमण का आचार गोचर (क्रिया-कलाप) अत्यधिक कठोर होता है। उस कठोर आचार का प्रतिपादन प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में हुआ है। भारतीय संस्कृति में आचार का सर्वाधिक महत्त्व है। राजा-महाराजा, अमात्य-मंत्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय व श्रेष्ठी

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 2 पृष्ठ-5

आदि जब भी श्रमण वर्ग के चरणों में पहुँचता था, तो सर्वप्रथम उनके आचार-विचार की पृच्छा करता था – **कहं आयार-गोयरं** अथवा **कथं ते भवतां आचार गोचरः क्रिया कलापः स्थितः?**[1] – हे भगवन् ! आप श्रमणों का आचार गोचर अर्थात् आचार-विचार, क्रिया-कलाप कैसा है ? यह वाक्य इसका प्रमाण है ।

'आचार-गोचर' की व्याख्या

'आचार-गोचर' की व्याख्या अभिधान राजेन्द्र कोष में अंकित निम्न शब्दों में द्रष्टव्य है-

आचार गोचरः – क्रियाकलापः ।

आचार-गोचर अर्थात् आचार का विषय, आचार सम्बन्धी क्रिया-कलाप ।

आचार-गोचर– मोक्ष के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान विशेष और उसका विषय ।

आचार गोचर– साधु समाचारी और उसका विषय, साधु के आचार के अंगभूत छह व्रत ।

आचार गोचर– ज्ञान, दर्शन आदि पंचविध आचार है और उसका विषय अर्थात् भिक्षाचरी ।

आचार गोचर– पर्याय ज्येष्ठ, पूज्य, रत्नाधिक के आगमन पर खड़े होना आचार गोचर है ।[2]

जैन परम्परा में निर्ग्रन्थ श्रमणों का आचार क्या है ?

---

1 रायाणो रायमच्चाय माहणा अदुव खत्तिया ।
पुच्छन्ति निहु अप्पाणो कह आयार गोयर ॥
–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 2 पृष्ठ-375

2 आचारो मोक्षार्थमनुष्ठान विशेषस्तस्य गोचरो विषय आचार गोचर ।
आचार साधु समाचार स्तस्यगोचरो विषया व्रत षटकादिरावारगोचर ।
साधु समाचार विषय व्रतषटकादिकं, आचारश्च ज्ञानादि विषय पचधागोचरश्च
भिक्षाचर्य्येत्या चार गोचर ज्ञानाचारादिके भिक्षाचय्याया च ।
सेह आयार गोयर ग्रहणयाए अब्भुट्ठेयव्व भवइ ।
–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 2 पृष्ठ 375

निर्ग्रन्थ श्रमणों के आचार की व्याख्या करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष में यह कथन किया गया है कि **से किं तं आयारे अथवा कोऽयमाचारः ?**[1] - निर्ग्रन्थ श्रमणों का आचार क्या है अथवा उनका क्रिया-कलाप (आचार-विचार) कैसा है ? इसका उत्तर भी प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में दिया गया है ।[2] प्रस्तुत कोष में मुख्यतः साधुओं की चर्या से सम्बन्ध रखने वाली सभी शिक्षाओं का उल्लेख किया गया है । वे इसप्रकार हैं-

आचार- ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग की आराधना के लिए किया जाने वाला विविध आचार ।

गोचरी- भिक्षा ग्रहण करने की विधि ।

विनय- ज्ञान और ज्ञानी आदि की विनय-भक्ति ।

विनेय- शिष्यों का स्वरूप व उनका आचार ।

भाषा- सत्य और असत्यामृषारूप भाषा का स्वरूप ।

अभाषा- निरर्थक भाषा अर्थात् मृषा तथा सत्यामृषा (मिश्र) रूप अभाषा का स्वरूप ।

चरण- पाँच महाव्रत, दशविध श्रमण धर्म, सत्रह प्रकार का संयम, दस प्रकार का वैयावृत्त्य, नव वाड़ सहित ब्रह्मचर्य का पालन, ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रयी की साधना बारह प्रकार का तप और चार कषायों के निग्रह को चरण कहते हैं ।[3] चरण अर्थात् चारित्र । उपर्युक्त चारित्र के ये सित्तर भेद हैं, जो श्रमण धर्म का आचार है ।

---

1 से किं त आयारे आयारेण समणाण निग्गथाण स त आयारे ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-372-373

2 आचार्य आह (आयारेण मित्यादि) आचरणमाचार आचर्यते इति वा आचार पूर्व पुरुषाचरिता ज्ञानाद्यासेवनविधिरित्यर्थ तत्प्रतिपादको ग्रन्थाऽप्याचार एव उच्यते

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 2 पृष्ठ-373

3 तत्राऽचारो ज्ञानाऽचाराद्यनेक भेद भिन्ना गोचरो भिक्षाग्रहण विधि लक्षण विनयो ज्ञानादि विनय वैनायक विनयफल कर्मक्षयादि । शिक्षा ग्रहण शिक्षा आसेवन शिक्षा च विनय शिक्षेति चूर्णिकृत । तत्र विनेया शिष्या तथा भाषा सत्या असत्या मृषा च अभाषा मृषा सत्यामृषा च चरण व्रतादि करण पिंडविशुद्ध्यादि । उक्त च वयसमणधम्मसजम वेयावच्च च बभ गुत्तीओ ।
नाणाइ तिय तव कोह निग्गहाइ चरणमेयतु ॥

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग पृष्ठ-373

करण– चार पिंड विशुद्धि, पाँच समिति, बारह भावना, द्वादश भिक्षु प्रतिमा, पाँच इन्द्रियों का निरोध, पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना, तीन गुप्तियाँ और चार अभिग्रह ये 'करण अर्थात् क्रिया के सित्तर भेद दर्शाये गये हैं ।'[1] चरण–करण का वर्णन करने वाले आचारांग आदि शास्त्रों को 'चरणकरणानुयोग' कहते हैं ।

यात्रा– संयम रूप यात्रा का पालन ।

मात्रा– संयम की रक्षा के लिए परिमित आहार लेना ।

वृत्ति– विविध अभिग्रहों की धारणा कर संयमी जीवन को पुष्ट करना ।

इसप्रकार जैन परंपरा में उपर्युक्त समग्र शिक्षाओं का पालन निग्रन्थ श्रमण का आचार धर्म है ।[2]

निर्ग्रन्थ-श्रमणाचार की विशेषता

अभिधान राजेन्द्र कोष में श्रमण धर्म के आचार की विशेषता का उल्लेख करते हुए कहा गया है–

आयार गोयरं भीमं सयलं दुरहिट्ठियं ।[3]

–निर्ग्रन्थ श्रमणों के आचार का विषय 1. भीम अर्थात् कठिन कर्म–शत्रुओं को खदेड़ने में भयङ्कर है । 2. दुर्गधिष्ठित- दुर्बल (कायर) आत्माओं के लिए इस आचार को धारण करना अशक्य है । इसीलिए कायर पुरुषों के लिए यह आचार दुर्धर है और यह सकल–सम्पूर्ण (अखंडित) है ।

---

1 करण पिडविशुद्ध्यादि । उक्त च-
पिडविसोहि समिई भावणपडिमाइ इदियनिराहा ।
पडिलहण गुत्तीओ, अभिग्गहो चेव करण तु ॥
–अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-373

2 (जाया माया वित्तिओ त्ति) यात्रा सयम यात्रा तदर्थमेव परिमित आहार ग्रहणम वृत्तिर्विविधरभिग्रहविशेषैर्वर्तनम । आचारश्च गोचरश्चेत्यादि द्वन्द्वान्ता आचार गाचर विनय वेनयिक शिक्षा भाषाणामाचरण करण यात्रा मात्रावृत्तय आख्यायन्ते स आचार समासत सक्षेपत पर्याधि प्रज्ञप्त । तद्यथा- (नाणाचारो इत्यादि)
–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ ३

3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2, पृष्ठ-375

अष्टादश आचार स्थान

आगमों के आधार पर अभिधान राजेन्द्र कोष में आचार के अष्टादश-अठारह स्थानों का सुन्दर, सहज व बोधगम्य चित्रांकन हुआ है। वह निम्नांकित शब्दों में द्रष्टव्य है-

वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं ।
पलियंक निसेज्जाय, सिणाणं सोहवज्जणं ॥[1]

-व्रतषट्क, कायषट्क, अकल्प्य, गृहस्थभाजन, पर्यंक, निषेद्या, स्नानवर्जन और शोभावर्जन- ये अष्टादश आचार हैं । जो अज्ञ श्रमण इन अष्टादश आचार स्थानों में से किसी एक की भी विराधना करता है; तो वह साधुता से भ्रष्ट होता है ।

प्रथम अहिंसा आचार

अभिधान राजेन्द्र कोष में प्रथम आचार-स्थान रूप अहिंसा की प्राथमिकता और उसका पूर्णरूपेण आचरण का सहेतुक वर्णन किया गया है। तीर्थंकरों ने अठारह आचार स्थानों में प्रथम अहिंसा आचार की प्ररूपणा की है, क्योंकि सभी प्राणियों के प्रति स्वयं को संयत रखना-यही अहिंसा का पूर्ण दर्शन है । जैसा कि कथन किया गया है-

अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्व भूएसु संजयो ।[2]

इस लोक में जितने भी त्रस अथवा स्थावर प्राणी हैं, उनको जानते या अजानते श्रमण हिंसा न करे, न ही दूसरों से हिंसा करवाये और हिंसा करने वालों की अनुमोदना भी न करे । आगे यह भी निर्देश किया गया है कि निर्ग्रन्थ-श्रमणों द्वारा हिंसा के परित्याग के मुख्यतया दो कारण हैं-

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं[1]

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ट-888
2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ट-888

1. सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता ।

2. सभी जीव सुख चाहते हैं, दुःख नहीं । मरण अत्यन्त दुःख रूप प्रतीत होता है । यहाँ तक कि मृत्यु का नाम सुनते ही भय के मारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं । इसलिए निर्ग्रन्थ श्रमण प्राणिवध को दारूण जानकर उसका त्याग करते हैं ।[2]

द्वितीय सत्य आचार

असत्य आचरण क्या है ? उसका त्याग क्यों और कैसे ? इन प्रश्नों का विवेचन करते हुए प्रस्तुत कोष में उल्लिखित है–

जिस वचन, विचार और व्यवहार (कार्य) में दूसरों को पीड़ा पहुँचती हो, जो वचनादि समग्र लोक में गर्हित हो, वह असत्य है; चूँकि हिंसक वचन सत्य होते हुए भी असत्य माना गया है ।[3] इसके अतिरिक्त प्रस्तुत कोष की निम्नांकित पंक्ति में बड़ा ही मार्मिक चित्र अंकित किया गया है–

अप्पणो थवणा परेसु निंदा[4]–अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा भी असत्य के ही समकक्ष है । इसलिए इसका भी श्रमण वर्ग के लिए निषेध किया गया है ।

तृतीय अचौर्य आचार

अचौर्य आचार का वर्णन करते हुए दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है– किसी के अधिकार अथवा स्वामित्व की वस्तु चाहे वह सचेतन हो या अचेतन, अल्प हो या बहुत, यहाँ तक कि दंतशोधन मात्र (दाँत कुरेदने का तिनका) भी हो, जिसके अधिकार में हो, उसकी बिना अनुमति लिए या उससे याचना किये बिना मन वचन, काया से उसे स्वयं ग्रहण न करे, न दूसरों से करवायें और न

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-888

2 तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गन्था वज्जयंति णं ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ 888

3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 6 पृष्ठ-887

4 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ 327

ग्रहण करने वालों की अनुमोदना करे ।[1]

चतुर्थ ब्रह्मचर्य आचार

अब्रह्मचर्य त्याज्य क्यों और कैसे ? इसका निर्देश करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष में अब्रह्मचर्य के दोषोत्पादक पाँच विशेषण बताये गये हैं । वे निम्न हैं– 1. घोर 2. प्रमाद 3. दुरधिष्ठित 4. अधर्म का मूल और 5. महादोषों का पुंज ।[2]

पंचम अपरिग्रह आचार

प्रस्तुत कोष में संग्रह, परिग्रह और अपरिग्रह का स्पष्टीकरण करते हुए संग्रह का निषेध, उपकरणादि वस्तु के अपरिग्रहत्व की तथा अपरिग्रहवृत्ति की चर्चा की गयी है ।[3]

षष्ठम आचार : रात्रिभोजन विरमण व्रत

रात्रिभोजन निषेध क्यों ? प्रस्तुत कोष में इसका दिग्दर्शन कराते हुए कहा गया है कि रात्रि में भिक्षाचरी एषणा शुद्धि की दुष्करता होती है । अतः अहिंसा की दृष्टि से परमात्मा महावीर द्वारा रात्रि में चतुर्विध आहार परिभोग का सर्वथा निषेध किया गया है ।[4]

सात से बारहवें आचार पर्यन्त षट्जीव निकाय संयम

अभिधान राजेन्द्र कोष में षट्कायिक जीवों की हिंसा के त्याग का निर्देश करते हुए क्रमशः पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय आदि षट्काय निकायों की हिंसा का त्याग श्रमण वर्ग को क्यों और किस प्रकार से करना चाहिये, इसका सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है ।[5]

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 6 पृष्ट-887 एवं भाग-1 पृष्ट-538
2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 6 पृष्ट 426 से 427
3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 6 पृष्ट 88
4 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 6 पृष्ट 510
5 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 5 पृष्ट 1345 1346

त्रयोदश आचार : प्रथम उत्तरगुण अकल्प्यवर्जन

अभिधान राजेन्द्र कोष में आगमों के आधार पर श्रमण वर्ग की चार मुख्य आवश्यकताओं (पिण्ड, शय्या, वस्त्र और पात्र) का निरूपण करके उनमें अकल्पनीय का वर्जन तथा कल्पनीय का ग्रहण करने का निर्देश किया गया है ।[1] जिसप्रकार श्रमण के लिए सदोष आहार अकल्पनीय है; उसीप्रकार यदि शय्या, वस्त्र और पात्र भी सदोष हों, तो वे भी श्रमण के लिए अकल्पनीय और अग्राह्य हैं ।

चतुर्दश आचार : गृहस्थ के भाजन में परिभोग निषेध

अभिधान राजेन्द्र कोष में अकल्प्य और कल्प्य का विवेचन किया गया है । षट्जीवनिकाय के रक्षक निर्ग्रन्थ श्रमण को गृहस्थ के बर्तनों में आहार आदि नहीं करना चाहिये । गृहस्थी के बर्तनों का उपयोग करने से श्रमण को पूर्व कर्म एवं पश्चात् कर्म आदि कई दोष लगते हैं ।[2]

पंचदश आचार : पर्यंक आदि पर सोने बैठने का निषेध

प्रस्तुत कोष में पलंग, खाट आदि पर सोने-बैठने के निषेध के कारणों की मीमांसा की गयी है तथा आपवादिक रूप में प्रतिलेखन पूर्वक बैठने या शयन करने का विधान किया गया है ।[3]

षोडश आचार : गृहनिषद्यावर्जन

अभिधान राजेन्द्र कोष में आगमिक आधारों पर गृहस्थ के घर में बैठने से होने वाले दोषों पर भी विचार किया गया है । निर्ग्रन्थ श्रमण को गृहस्थ के घर में जाकर बैठना नहीं चाहिए । गृहस्थों के घर में बैठने से ब्रह्मचर्य का नाश होने की संभावना रहती है । इसके अतिरिक्त अन्य दोष भी उत्पन्न होते हैं । 'साधु का काम

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ 115-116

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3 पृष्ठ 900

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5 पृष्ठ-725

हे आहार लिया और चल दिया ।' इसलिए अत्यन्त वृद्ध, रोगी या उत्कृष्ट तपस्वी-इन तीन के सिवाय अन्य किसी भी साधु को गृहस्थ के घर पर नहीं बैठना चाहिये ।[1]

सप्तदश आचार : स्नानवर्जन

अभिधान राजेन्द्र कोष में ब्रह्मचारी एवं संयमी श्रमण के स्नान करने में होने वाले दोषों की संभावना का उल्लेख किया गया है ।[2]

अष्टादश आचार : विभूषात्याग

अभिधान राजेन्द्र कोष में विभूषा दुष्फल की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि विभूषा श्रमण वर्ग के लिए त्याज्य क्यों है ? और शृङ्गार आदि में रत चित्तवाला साधक कैसे कठोर दुष्कर्मों को बाँधता है ?[3]

इसप्रकार अष्टादश आचारों-कल्पों का यथावत् पालन करनेवाले तप में रत निर्ग्रन्थ श्रमण अविचल मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं ।

अनाचार (अनाचीर्ण) का स्वरूप

अभिधान राजेन्द्र कोष में आचार का स्वरूप, अष्टादश आचार स्थान आदि का अनुशीलन करने के बाद दशवैकालिक सूत्र के आधार पर अनाचार के स्वरूप का भी निर्देश किया गया है । यहाँ उसकी संक्षिप्त चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं होगा ।

अनाचार का अर्थ होता है-निषिद्ध आचरण या कर्म । सावद्य कृत्य या अकरणीय कार्य को 'अनाचार' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है । इसीलिए अनाचार अधर्म या अकर्त्तव्य है ।

---

1. अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 3 पृष्ट-698
2. अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 1 पृष्ट 818
3. अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 6 पृष्ट 1204

अभिधान राजेन्द कोष में 'अनाचार' क सम्बन्ध मं निर्देश किया है- **अनासेविते, महापुरुषैरनाचीर्णम् (नाऽऽचरणीयम्)** ।[1]

वस्तुतः मर्यादा का अतिक्रमण करना अनाचार है । अधिकांशतः जितने भी अग्राह्य, अभोग्य और अकरणीय कार्य हैं तथा जो बातें श्रमण के लिए वर्ज्य हैं, वे सभी अनाचार हैं । साधकों को उन अनाचारों से बचने का संकेत किया है । अनाचार की विशद विवेचना प्रस्तुत कोष के प्रथम भाग पृष्ठ 305 पर दृष्टव्य है ।

श्रमणों के लिए जो-जो अनाचरित कर्म हैं, उनका सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में किया गया है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'औद्देशिक क्रीत-कृत, नित्याग्र, अभिहृत, रात्रिभक्त आदि से लेकर 'विभूषण' पर्यन्त श्रमण-श्रमणियों के लिए अनाचरणीय, अग्राह्य, असेव्य ऐसे बावन अनाचारों का स्वरूप अभिधान राजेन्द्र कोष के प्रथम भाग में वर्णित है ।'[2]

शुद्ध श्रमणाचार-पालन का फल

प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में शुद्ध श्रमणाचार-पालन का फल भी दर्शाया गया है । वह निम्न पंक्तियों में अभिव्यक्त है-

दुक्कराइं करेत्ताणं, दुस्सहाइं सहेत्तु य ।
केइत्थ देवलोएसु, केइ सिज्झंति नीरया ॥
खवेत्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
सिद्धिमग्ग मणुप्पत्ता, ताइणो परिनिव्वुडा ॥[3]

-दुष्कर तथा दुःसह को सहन कर उन निर्ग्रन्थ श्रमणों में से कई देवलोक में जाते हैं और कई कर्मरज से मुक्त हो कर सिद्ध हो जाते हैं । देवलोक से पुनः वे निर्ग्रन्थ श्रमण संयम और तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करके मुक्त हो जाते हैं ।

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ-305
2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ-311 से 313
3 अभिधान राजेन्द कोष भाग-1 पृष्ठ-313

संयम और तप के द्वारा असंख्य भवों में संचित कर्म कैसे क्षीण हो जाते हैं ? इस तथ्य को अभिधान राजेन्द्र कोष में एक रूपक के माध्यम से समझाया गया है । यथा–

जहा महातलागस्स, सन्निरूद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥

एवं तु संजयस्साऽवि, पावकम्म निरासवे ।
भव कोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥[1]

–जिसप्रकार किसी बड़े सरोवर का जल खत्म करने के लिए सर्वप्रथम जल के आने के मार्ग रोके जाते हैं, तत्पश्चात् कुछ पानी उलीच-उलीच कर बाहर फेंका जाता है और कुछ सूर्य की तेज धूप से सूख जाता है । इसप्रकार सरोवर का समूचा जल सूख जाता है, उसीतरह संयमी पुरुष व्रतादि के द्वारा नये कर्मास्रवों को रोक देता है और पुराने करोड़ों जन्मों के संचित किये गये कर्मों को तप के द्वारा सर्वथा क्षीण कर डालता है ।

प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में यह भी वर्णित है कि जिस प्रकार सूखे खोखले काठ को अग्नि शीघ्र ही जला डालती है; उसी तरह निष्ठा के साथ आचार का पालन करने वाला साधक कर्मों को नष्ट कर डालता है ।[2]

जैनागमों में उपासकदशांग सूत्र में श्रावकाचार (श्राद्धव्रतों) का सुन्दर निरूपण मिलता है । जैन परम्परा के आचार्यों में (जिन्होंने आचार विषयक ग्रन्थ लिखे हैं) आचार्य भद्रबाहुस्वामी, आचार्य रत्नशेखर सूरिजी, दिगम्बराचार्य अमितगति, स्वामी समन्तभद्र आदि प्रमुख हैं । श्राद्धविधि प्रकरण, अमितगति, श्रावकाचार, रत्नकरण्ड

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ 2199 से 2200

2 जह खलु झुसिर कट्ठ सुचिर सुक्क लहु डहइ अग्गी ।
तह खलु खवति कम्म सम्मचरणे ठिया साहू ॥
–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 7 पृष्ठ 494

श्रावकाचार आदि आचार में सम्बन्धित ग्रन्थ हैं । अमृतचन्द्राचार्य का 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' भी एक बढ़िया श्रावकाचार विषयक ग्रन्थ है । इन सब ग्रन्थों में आचार का विश्लेषण किया गया है ।

अभिधान राजेन्द्र कोष में तो अनेक स्थलों पर प्रसंगानुसार आचार-श्रमणाचार, सदाचार, श्रावकाचार आदि का विशद वर्णन यत्र-तत्र उपलब्ध होता है । इतना ही नहीं, अपितु श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी ने 'गच्छाचार पयन्ना' के आधार पर साध्वाचार का भी सूक्ष्म एवं मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

वस्तुतः यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि स्वयं विश्वपूज्य गुरुदेवश्री की आत्मा ही आचारमयी हो गयी थी । उन्होंने अपने जीवन में आचार को सर्वाधिक महत्त्व दिया और तदनुसार जीवन जीया । आचार पालन के मामले में पूज्य गुरुदेवश्री अति कठोर थे । तनिक भी शिथिलता उन्हें असह्य थी । तभी तो उन्होंने शिथिलता का उन्मूलन कर क्रियोद्धार किया । यह कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उनका जीवन मन्त्र ही आचार था । आचार ही उनका धर्म था । उनके जीवन के प्रत्येक कण में, प्रत्येक रूप में आचार समाया हुआ था । उनका हर व्यवहार आचारमय होता था ।

जैनागमों के अध्ययन के अनुशीलन से यह निश्चित ही पता चलता है कि जैनधर्म की समूची साधना जो आचार प्रधान और ज्ञान प्रधान है; वह समग्र आचारमय ही है । इसीलिए जैनधर्म संस्कृति का संदेशवाहक 'श्रमण' एक कठोर आचार की जीती जागती प्रतिमा माना गया है ।

आचार प्रणिधि व उसका फल

आचार प्रणिधि का अर्थ–

अभिधान राजेन्द्र कोष में आचार-अनाचार का ही नहीं, प्रत्युत आचार-प्रणिधि का भी विवेचन उपलब्ध होता है ।

आचार-प्रणिधि अर्थात् आचार रूप उत्कृष्ट निधि । आचार-प्रणिधि का शाब्दिक अर्थ है- आचार में इन्द्रियों और मन को सुप्रणिहित करना-एकाग्र करना अथवा निहित करना । जिसतरह खजाने में संपत्ति को सुरक्षित रखा जाता है, वैसे ही आचार रूपी संपत्ति को सुरक्षित रखने के लिए 'आचार-प्रणिधि'-आचार की प्रकर्ष (उत्कृष्ट) निधि है-खजाना है ।

आचार एक महान् निधि है । जिस साधक को यह अपूर्व-अनुपम-अलौकिक निधि उपलब्ध हो जाती है, उसके जीवन का कायाकल्प हो जाता है, आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है । उसका प्रत्येक व्यवहार अन्य साधकों की अपेक्षा भिन्न हो जाता है । उसका खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना इत्यादि सब विवेकयुक्त होता है। इन्द्रिय-संयम श्रमण जीवन का अनिवार्य कर्त्तव्य है । बँधी बँधाई आचार संहिता पर चलना सुलभ है, पूर्व में जो आचार विषयक नियमोपनियम दर्शाये गये हैं; उनका स्थूल रूप से पालन करना भी सहज है, लेकिन **आयार पणिहिं लद्धुं, जहा कायव्व भिक्खुणा**[1]- 'आचार प्रणिधि को पाकर भिक्षु को जिसप्रकार जो करना चाहिये' उसका अभिधान राजेन्द कोष में सुन्दर ढंग से विवेचन प्रस्तुत किया गया है । अनेक बार साधक स्थूल दृष्टि से आचार का पालन करता हुआ भी अन्तरंग से आचार में निष्ठा-आस्था, एकाग्रता अथवा प्रवृत्ति नहीं कर पाता है । जैसा कि अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है-

'जिस साधक की इन्द्रियाँ कुमार्गगामिनी हो गयी हैं, वह दुष्ट घोड़ों के वश में पड़े सारथी की तरह उत्पथ में भटक जाता है ।'[2] यह इन्द्रियों का दुष्प्रणिधान है । इसके विपरीत समत्वयुक्त प्रवृत्ति होना इन्द्रियों का सुप्रणिधान है । इसीप्रकार 'श्रमण धर्म का अनुचरण

---

1 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ट-386*

2 *जस्स खलु दुप्पणिहिया-णिदियाइ तव चरतस्स ।*
सो हीरइ असहीणेहि सारही वा तुरगेहि ॥
-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5 पृष्ठ-382

करते हुए भी जिसके क्रोधादि उत्कट हैं, तो उसका श्रमणत्व वैसा ही निरर्थक है, जैसा कि ईख का फूल ।"[1]

अहिंसा के आचार को जीवन में चरितार्थ करने के उपाय

प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में विभिन्न पहलुओं से जीवों के विविध प्रकार तथा उनकी विविध प्रकार से (मन, वचन, काया एवं कृत, कारित, अनुमोदन से) होने वाली हिंसा से बचने का तथा अहिंसा को श्रमण जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में क्रियान्वित करने का सम्यक् विवेचन उपलब्ध होता है । यथा- पृथ्वी, अप्, तेउ (अग्नि), वायु, तृण, वृक्ष एवं बीज रूप वनस्पतिकाय और त्रस प्राणी ये जीव हैं । अतः इन स्थावर-त्रस जीवों के प्रति मन-वचन-काया से श्रमण सदैव अहिंसामय प्रवृत्ति को अपनाये ।[2] सुसमाहित संयमी तीन करण तीन योग से पृथ्वी के भेदन-विलेखन आदि को न करे ।[3] इसीप्रकार अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय की वचन अथवा कर्म से हिंसा न करे । समग्र जीवों की हिंसा से उपरत श्रमण विविध स्वरूप वाले प्राणि-जगत् को विवेक पूर्वक देखे ।[4]

अष्टविध सूक्ष्म जीवों की यतना का निर्देश

यतनावान् श्रमण आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवों के स्वरूप को परिज्ञा से जानकर ही समूचे जीवों के प्रति दया का अधिकारी बनता है । उन अष्टविध सूक्ष्म शरीर वाले जीवों[5] को सम्यक्तया देखकर ही संयमी श्रमण बैठे, खड़े हों अथवा शयन करे ।[1] इसी

---

1 सामन्नमणुचरतस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति
सन्नामि उच्छुफुल्लं, व निष्फलं तस्स सामन्नं ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ-571 एवं भाग 5 पृष्ठ-382

2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-386

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2 पृष्ठ-386

4 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ 386 से 387

5 सिणेह पुप्फ सुहुमं च पाणुत्तिंग तहेव य ।
पणगं बीय हरियं च, अंड सुहुमं च अट्ठमं ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7 पृष्ठ-1023

प्रकार क्षुधा, तृषा आदि परिषहों को समभाव से सहने का उल्लेख भी अभिधान राजेन्द्र कोष में किया गया है । जैसा कि कहा है-**देह दुक्खं महाफलं**[2]-दैहिक कष्टों को समता पूर्वक सहने से महाफल की प्राप्ति होती है । इस कथन का आशय यह है कि क्षुब्ध हुए बिना क्षुधादि परिषहों का सहन से मोक्ष रूप महाफल की प्राप्ति होती है ।

आत्मा को क्रोधादि विचारों से दूर रखें

कषायवश आत्मा अनेक बार जन्म मरण करती रही हैं, संसार में परिभ्रमण करती है । इसलिये आगमों में यथार्थ ही कहा है- **सिंचति मूलाइं पुणब्भवस्स**[3] कषाय पुनः-पुनः जन्म मरण रूप संसार वृक्ष की जड़ों को सींचते रहते हैं । क्रोध, मान, माया व लोभ - ये चारों पाप की वृद्धि करने वाले हैं । अतः आत्मा का हित चाहने वाला साधक इन चारों दोषों का परित्याग कर दें ।[4] इसके अतिरिक्त साधु आहार न मिलने पर अथवा नीरस आहार मिलने पर या मनचाहा लाभ न होने पर गुस्से में आकर क्षुब्ध न हो, न चपलता दिखलाये । मितभाषी, मितभोजी और सन्तोष-वृत्ति धारण करे । आहारादि थोड़ा पाकर दाता की निन्दा न करे ।[5] इतना ही नहीं, अपितु श्रमण दूसरों का तिरस्कार न करे और अपनी बड़ाई न करे । श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का मद भी न

---

1 *अट्ठ सुहुमाइ पेहाए जाइ जाणित्तु सजए ।*
दयाहिगारी भूएसु आस चिट्ठेसएज्ज वा ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-387 एव भाग-7 पृष्ठ-1023

2 *खुह पिवाह दुस्सेज्ज सिउण्ह अरइ भय ।*
अहियासे अव्वहियो देहदुक्ख महाफल ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5 पृष्ठ-643

3 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-399*

4 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-399*

5 *अतितिणे अचवले अप्पभासी मियासने ।*
हविज्ज उअर दते थोव लद्धु न खिसए ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-739

करे ।[1] इसके सिवाय स्व-पर अहितकर भाषा-निषेध,[2] ब्रह्मचर्य गुप्ति के विविध अंगों के पालन का निर्देश[3] इत्यादि का उल्लेख अभिधान राजेन्द्र कोष में व्यवस्थित रूप से यथास्थान किया गया है ।

अभिधान राजेन्द्र कोष में यह भी बताया गया है कि आचार-प्रणिधि के फलस्वरूप संयमी जीवन यापन करने वाले श्रमण को इहलौकिक व पारलौकिक तीन उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं । जो श्रमण तपोयोग, संयमयोग एवं स्वाध्याययोग में सदा निष्ठापूर्वक प्रवृत्ति करता है, वह अपनी और दूसरों की रक्षा करने में उसीप्रकार समर्थ होता है, जिसप्रकार सेना से समन्वित समग्र आयुधों (शस्त्रास्त्रों) से सुसज्जित शूरवीर ।[4] स्वाध्याय और सद्ध्यान में रत, त्राता निष्पाप भाव वाले तथा तपश्चरण में रत श्रमण का पूर्वकृत कर्म उसीप्रकार विशुद्ध होता है, जिसप्रकार अग्नि द्वारा तपाये हुए रूप्य (सोने-चाँदी) का मल ।[5] जो श्रमण पूर्वोक्त गुणों से युक्त है, दुःखों को समभाव पूर्वक सहन करने वाला है, जितेन्द्रिय, श्रुत से युक्त, ममत्त्व रहित और अकिंचन है, वह कर्मरूपी मेघों के दूर होने पर उसीप्रकार सुशोभित होता है; जिसप्रकार सम्पूर्ण अभ्रपटल से मुक्त चन्द्रमा ।[6]

---

1 *न बाहिर परिभवे, अत्ताण न समुक्कसे ।*
सुअलाभे ण मज्जिज्जा, जच्चा तवस्सि बुद्धिए ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-106

2 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5, पृष्ठ-1549*

3 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-641*

4 *तव चिम सजम जोगय च, सज्झाय जोग च सया अहिट्ठिए ।*
सूरे व सेणाए समत्त माउहे, अलमप्पणो होइ अल परेसि ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-387

5 *सज्झाय सज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवे रयस्स ।*
विसुज्झइ जसि मल पुरेकड, समीरिय रुप्पमल व जोइणा ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-387

6 *से तारिसे दुक्खसहे जिइदिये, सुएणजुत्ते अममेअकिचणे ।*
विरायइ कम्म घणम्मि अवगए, कसिणब्भपुडावगमेव चदिमि त्ति बेमि ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-387

इसप्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आचार-प्रणिधि के फल स्वरूप साधक को जो तीन उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे निम्नांकित हैं-

(1) कषाय-विषय आदि से अपनी रक्षा करने और कर्म शत्रुओं को हटाने में समर्थ हो जाता है ।

(2) अग्नि तप्त सुवर्ण की तरह पूर्वकृत कर्म-मल से रहित हो जाता है ।

(3) अभ्रपटल मुक्त चन्द्रमा की भाँति कर्म पटल मुक्त सिद्ध आत्मा बन जाता है ।

आचार-समाधि

आचार-समाधि अर्थात् जिस आचार के द्वारा आत्मा का हित होता हो, वह है आचार-समाधि । अभिधान राजेन्द्र कोष में आचार-समाधि के चार भेदों पर प्रकाश डालते हुए कहा है-

चउव्विहा खलु आयार-समाही भवइ । तं जहा-

(1) नो इहलोगट्ठाए आयारमहिट्ठिज्जा ।

(2) नो परलोगट्ठाए आयारमहिट्ठिज्जा ।

(3) नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा ।

(4) नन्नत्थ आरहंतेहिं हेउहिं आयारमहिट्ठेज्जा ।[1]

-आचार-समाधि को प्राप्त करने के लिए विभिन्न भौतिक प्रयोजनवश आचार पालन का निषेध करते हुए स्पष्टीकरण किया है कि आचार का उद्देश्य इहलौकिक या पारलौकिक नहीं होना चाहिये । साधक को ऐहिक अथवा पारलौकिक सुख-समृद्धि, भोगोपभोग या किसी सांसारिक स्वार्थ सिद्धि की आशा से आचार

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-389

का पालन नहीं करना चाहिये । सदाचार के पालन का उद्देश्य कीर्ति या श्लाघा के लिए भी नहीं होना चाहिये । एकमात्र वीतराग पद प्राप्ति के उद्देश्यों (आर्हत्-हेतुओं) के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य को लेकर आचार का पालन नहीं करना चाहिये ।

तात्पर्य यह है कि पद-प्रतिष्ठा, पदोन्नति, कीर्ति-प्रसिद्धि, प्रशंसा-स्तुति-प्रशस्ति इत्यादि की दृष्टि से साधक आचार का पालन न करें। आचार-समाधि के विषय में आगमों में कहा गया है कि-

जिण वयणरए अतिंतिणो, पडिपुन्ना वयणाययट्ठिए ।
आयारसमाहि संवुडे, भवइ य दन्ते भावसन्धए ॥[1]

-जो जिनवचन में रत है, क्रोध से नहीं भन्नाता, सूत्रार्थ ज्ञान से परिपूर्ण है और जो अतिशय मोक्षार्थी है, वह दान्त मुनि आचार-समाधि द्वारा आस्रव निरोध करके अपनी आत्मा को मोक्ष के अतिनिकट करने वाला होता है ।

आचार का सार

मानव मन सहज ही इतना जिज्ञासु है - वह जानना चाहता है- आचार का सार क्या है ? प्ररूपणा का सार क्या है ? आदि आदि । आचारांग निर्युक्ति में जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा है-

अंगाणं किं सारो ? आयारो ।[2]

-जिनवाणी (द्वादशाङ्गी-सकल वाङ्मय) का सार क्या है ? 'आचार' सार है । जिनवाणी का सार एवं आधार आचार है, आचार ही मोक्ष का प्रधान हेतु है । पुनः प्रश्न उठता है कि उसका

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2 पृष्ठ-389

2 अगाण कि सारो आयारो तस्स कि हवइ सारो ।
अणुओगत्थो सारो तस्स वि य परूवणा सारो ॥
-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ट 372

भी मार क्या है ? तो कहते हैं- **अणु ओगत्थ सारो**[1] - अर्थात् तीर्थङ्कर परमात्मा के द्वारा उपदिष्ट जिन सिद्धान्तों को अभी तक पढ़ा, श्रवण किया; उन पर चिन्तन करते हुए उसके पीछे-पीछे चलना अर्थात् आचार का सार है-जिनाज्ञा पालन । प्रश्न पुनः मन में उद्भूत होता है कि उसका भी सार क्या है ? तो इसके उत्तर में कहते हैं- **तस्स वि य परूवणा सारो**[2] - प्ररूपणा यानी वस्तुस्वरूप का सत्य प्रतिपादन करना । जिनाज्ञा पालन का सार प्ररूपणा है, अर्थात् स्व स्थैर्य के साथ अज्ञ जीवों को सदुपदेश दे कर सन्मार्ग पर लाना है । इसी संदर्भ में आगे की निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य है-

सारो परूवणाए चरणं, तस्स वि य होइ निव्वाणं ।[3]

प्ररूपणा का सार है चरण अर्थात् आचरण और आचरण का सार है निर्वाण । उत्तर एकदम यथार्थ है। हम जिस बात की प्ररूपणा करें, जिस कार्य को करने का औरों को उपदेश दें, पहले स्वयं उसका पालन करें । अन्यथा **परोपदेशे पाण्डित्यं, सर्वेषां सुकरं नृणाम्** - दूसरों को उपदेश देना और उनके समक्ष अपने पांडित्य का प्रदर्शन करना सरल है; लेकिन तदनुसार हमारा स्वयं का आचरण भी पहले होना चाहिये, तभी अन्य व्यक्ति पर हमारी बात का प्रभाव पड़ सकता है । उपदेश के पीछे आचरण का बल अवश्य होना चाहिये, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है- **पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे नर आचरहिं ते न घनेरे ।** वास्तव में यह कथन कितना सत्य है । किसी कवि ने भी ठीक ही कहा है-

पंडित और मशालची, दोनों सूझे नाय ।
औरन को करे चांदणा, आप अंधेरे मौंय ॥

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-372
2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-372
3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ट-372

इसीलिए राष्ट्रपिता गाँधीजी का यह कथन कितना मार्मिक है ! वे कहा करते थे- 'टन भर भाषण देने की अपेक्षा कण भर आचरण का मूल्य अधिक है ।' भाषण की अपेक्षा आचार अधिक महत्त्व रखता है । एक उर्दू शायर के शब्दों में कहूँ तो-

हमें कहना आता है, करना नहीं आता ।
हमें बोलना आता है, चलना नहीं आता ॥

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि बंध और मोक्ष की चर्चा करने वाले दार्शनिक केवल वाणी के बल पर ही अपने आपको आश्वस्त किये रहते हैं; किन्तु आचरण कुछ भी नहीं करते । वे केवल बोलकर ही रह जाते हैं ।[1] बोलने में देर नहीं लगती । मानव एक क्षण में हिमालय नाप सकता है, परन्तु ताकत तो चलने में लगती है । एक-एक कदम की चढ़ाई में पसीने की बूंदें टपकती हैं । वैसे ही आचार के क्षेत्र में भी अगर आध्यात्मिक विकास के पथ पर आगे बढ़ना है, तो कठोरता का मार्ग अपनाना होगा, तभी मानव अपनी मंजिल तक पहुँच सकता है ।

कहने का आशय यही है कि उपदेश देने से पहले स्वयं करना होता है । इसी दृष्टि से प्ररूपणा का सार आचरण करना बताया गया है । **सारो परूवणाए चरणं** ।[2] - इसमें 'चरण' शब्द का प्रयोग हुआ है । 'चरण' का अर्थ है आचरण । 'चरण' का दूसरा अर्थ चारित्र भी है । 'चरण' पैरों को भी कहते हैं । यहाँ यह प्रश्न सहज उद्भूत होता है कि 'चरण' शब्द का ही प्रयोग क्यों किया गया ? आचरण को चरण क्यों कहा गया ? इसमें भी गूढ अर्थ निहित है । शरीर का संपूर्ण बोझ चरण ही उठाते हैं, न कि मस्तक । नमस्कार भी चरणों को ही किया जाता है, न कि मस्तक

---

1 भणता अकरेन्ता य, बध मोक्ख पइण्णिणो ।
वाया वीरियमेत्तेण, समा सासेन्ति अप्पय ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3, पृष्ठ-751

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-372

को । जिसप्रकार शरीर के संपूर्ण अंगों की अपेक्षा चरणों का ही महत्त्व अधिक है और वे ही श्रद्धा के पात्र होते हैं, वैसे ही जीवन में ज्ञान की अपेक्षा आचार (चरण) का महत्त्व सर्वाधिक है, क्योंकि ज्ञान का सार भी आचरण ही बतलाया गया है और आचरण का सार निर्वाण या परमार्थ की उपलब्धि है ।

विश्वपूज्य की पट्टपरम्परा में हुए श्रीमद् धनचन्द्रसूरीश्वरजी म. ने भी 'श्री अष्टप्रवचन माता पूजा' में चतुर्थ आदान निक्षेपण समिति के सन्दर्भ में श्रमण जीवन का सार आचार बतलाया है । इस सम्बन्ध में उनके हृदयोद्‌गार हैं–

आचार मुनि नो सार,
करि निर्धार वरे शिवनारी ।[1]

मुनि जीवन का सार आचार है और उसका सार मुक्ति है । जो शुद्ध साध्वाचार का पालन करता है; वह मुक्ति रूपी नारी का वरण करता है ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि द्वादशांगी का सार है आचारांग। आचारांग का सार है जिनाज्ञापालन । उसका भी सार है प्ररूपणा और प्ररूपणा का सार है आचरण करना – चारित्र का पालन करना । चारित्रपालन का सार है निर्वाण; तो निर्वाण का सार है- **अव्वाबाहं जिणो वेंति**[2]-अव्याबाध सुख । वीतराग परमात्मा ने फरमाया है कि अगर निर्वाण प्राप्त करना है तो पहले आचार को आत्मसात् करो । तदनन्तर तीर्थङ्कर परमात्मा की आज्ञा के पीछे चलो । बाद में प्ररूपणा से औरों को सन्मार्ग पर लाओ । फिर चारित्र (आचरण) का पालन करो; जिससे निर्वाण प्राप्त हो ।

1 जिनेन्द्र पूजा सग्रह अष्टप्रवचनमाता पूजा मे आदान निक्षेपण समिति पूजा

2 अगाण कि सारो आयारो तस्स कि हवइ सारो ।
अणु ओगत्था सारो तस्स वि य परूवणा सारो ॥
सारो परूवणाए चरण तस्स वि य होइ निव्वाण ।
निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाह जिणो वेति ॥
–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-372

उपसंहार एवं निष्कर्ष

आचार एक मूल्यांकन

भारतीय आचार प्रणाली एवं विशेषकर जैन आचार प्रणाली में आचार के सम्बन्ध में जो चिन्तन मनीषियों ने किया है, वह स्तुत्य है और आचरणीय भी ।

आचार तो जीवन में अभिव्यक्त होता है । वह तो परम धर्म है। उसे शब्दों में अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं है । आचार आत्मा की ऊष्मा है, जिसे शब्दों में बाँधा नहीं जा सकता; वाक्यों में प्रकट नहीं किया जा सकता और लेखनी उसका मूल्यांकन नहीं कर सकती । उसे तो जीवन में जीया जा सकता है । वह किसी एक आचार दर्शन की बपौती नहीं, वह तो प्रत्येक जागरूक आत्मा की अनुभूति है । आचार जब जीवन में प्रवेश पा लेता है; तब एक नया आयाम खुल जाता है; एक नवीन अनुभूति होती है । वहाँ शब्द और भाषा दोनों मौन हो जाते हैं और आचरण की वाणी मुखरित होने लगती है । आचार का यही जीवन्त और जागृत शाश्वत स्वरूप है, जो सार्वजनीन और सार्वकालिक है । सभी साधना पद्धतियाँ इसे मानकर चलती हैं ।

द्वितीय परिशिष्ट

जैन दर्शन वाटिका में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ : अध्ययन/गाथादि

पुष्प–2

अभिधान राजेन्द्र : आचार-विज्ञान

पुस्तक पृष्ठ संख्या	संदर्भ क्रमांक	संदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
95	1	प्रश्नव्याकरण 2/3
97	1	आचारांग सूत्र 1/1/1
97	2	तत्त्वार्थ सूत्र 1/1
98	1	आवश्यक बृहद् वृत्ति 3 अध्ययन
98	2	आचारांग वृत्ति शीलांकाचार्य - 1/2/1
99	1	दशवैकालिक निर्युक्ति 215
100	1	आवश्यक निर्युक्ति 1151
101	1	आवश्यक निर्युक्ति 100
101	2	प्रशमरति प्रकरण - 72
102	1	आवश्यक निर्युक्ति - 98 एवं चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक - 66
102	2	आवश्यक निर्युक्ति - 97
102	3	आवश्यक निर्युक्ति - 99
102	4	विशेषावश्यक भाष्य - 3
102	5	आवश्यक निर्युक्ति - 101
102	6	आवश्यक निर्युक्ति - 102
103	1	जयन्तसेन सतसई पृष्ठ - 22
104	1	भगवती सूत्र सटीक 1 श./1 उद्देशक
104	2	आचारांग सूत्र 1/5/1
104	3	आवश्यक मलयगिरि
104	4	विशेषावश्यक वृत्ति एवं स्थानांग सटीक 5 ठाणा

पुस्तक पृष्ठ संख्या	संदर्भ क्रमांक	संदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन गाथादि
105	1	आचारांग सूत्र सटीक 1/3 एवं गच्छाचार पयन्ना/आतुर प्रत्याख्यान
106	1	नन्दी सूत्र वृत्ति
106	2	अष्टक यशोविजयजी कृत सटीक
106	3	भगवती सूत्र सटीक 1/1
106	4	प्रश्नव्याकरण सूत्र सटीक-संवर द्वार 3
106	5	ज्ञाताधर्म कथा सूत्र सटीक
106	6	भगवती सूत्र सटीक 2/1 एवं आवश्यक बृहद वृत्ति
107	1	समवायांग सूत्र सटीक
107	2	सूत्रकृतांग सूत्र सटीक 2/5
108	1	दशवैकालिक सूत्र सटीक 3 अध्ययन
108	2	आचारांग वृत्ति शीलांकाचार्य
108	3	नन्दी सूत्र-सू. 32 एवं स्थानांग सूत्र 5 ठाणा
109	1	स्थानांग सूत्र सटीक 2 ठाणा
109	2	निर्युक्ति गाथा 181
109	3	स्थानांग सूत्र सटीक 2 ठाणा
109	4	प्रशमरति - 113
110	1	आचारांग निर्युक्ति गाथा 8
110	2	शीलांकाचार्य आचारांग वृत्ति 1 अंग
110	3	समवायांग सटीक
110	4	आचारांग वृत्ति शीलांकाचार्य

पुस्तक पृष्ठ संख्या	संदर्भ क्रमांक	संदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
111	1	म्थानांग मूत्र मटीक 2 ठाणा/3 उद्देशक
111	2	उत्तराध्ययन 28/31
111	3	म्थानांग मूत्र मटीक 10 ठाणा
111	4	आवश्यक मलयगिरि (प्रथम खण्ड)
111	5	प्रज्ञापना मूत्र सटीक 1 पद
111	6	ममवायांग मूत्र सटीक 100
111	7	निशीथ चूर्णि 1 उद्देश
112	1	उत्तराध्ययन 24/1-2
112	2	धर्मसंग्रह सटीक 1 - 2 अधिकार
112	3	निशीथ चूर्णि 1 उद्देश
112	4	धर्मसंग्रह मटीक 2 अधिकार एवं पंचाशक सटीक 15 विवरण, 26 गाथा
112	5	भगवती मूत्र मटीक 25/7
112	6	भगवती मूत्र मटीक 25/7 एवं धर्मसंग्रह मटीक 1 अधिकार
112	7	निशीथ मूत्र मचूर्णि 1 उद्देश
113	1	निशीथ चूर्णि 1/43
113	2	निशीथ चूर्णि 1/44
113	3	धर्मसंग्रह मटीक एवं पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति
.113	4	व्यवहार सूत्र वृत्ति 1
114	1	आचारांग सूत्र सटीक 1/7 एवं 1/2
114	2	धर्मसंग्रह सटीक एव पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति

पुस्तक पृष्ठ संख्या	संदर्भ क्रमांक	संदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
114	3	धर्मसंग्रह सटीक 2 अधिकार
114	4	धर्मसंग्रह सटीक 2 अधिकार
114	5	धर्मसंग्रह सटीक 3 अधिकार
115	1	आचारांग सूत्र सटीक 1/1/1
116	1	दशवैकालिक 6/2
116	2	स्थानांग सूत्र सटीक 8 ठाणा
117	1	नन्दीसूत्र वृत्ति - सूत्र 32
117	2	नन्दीसूत्र वृत्ति - सूत्र 32
117	3	नन्दीसूत्र वृत्ति - सूत्र 32
118	1	प्रवचनसारोद्धार - गाथा 563
118	2	नन्दीसूत्र वृत्ति - सूत्र 32
118	3	आचारांग 2/1
119	1	दशवैकालिक 6/7
119	2	दशवैकालिक 6/8
120	1	दशवैकालिक 6/11
120	2	दशवैकालिक 6/11
120	3	दशवैकालिक 6/12-13
120	4	प्रश्नव्याकरण 2/2
121	1	दशवैकालिक 6/14-15
121	2	दशवैकालिक 6/16-17
121	3	दशवैकालिक - 6/18-19-20-21-22
121	4	दशवैकालिक 6/24-25-26
121	5	दशवैकालिक सूत्र 4/3-9-10
122	1	दशवैकालिक 6/47 48-49
122	2	दशवैकालिक 6/51-52-53

पुस्तक पृष्ठ संख्या	संदर्भ क्रमांक	संदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
122	3	दशवेकालिक 6/54-55-56
123	1	दशवेकालिक 6/57-58-59-60 एवं निशीथ चूर्णि 12 उद्देश
123	2	दशवैकालिक 6/61-62
123	3	दशवैकालिक 6/66-67
124	1	बृहत्कल्प वृत्ति सभाष्य 1 उद्देश
124	2	सूत्रकृतांग सूत्र सटीक 1/9
124	3	दशवैकालिक 3/14
125	1	उत्तराध्ययन 30/5-6
125	2	आचारांग निर्युक्ति 234
127	1	दशवैकालिक 8/1
127	2	दशवैकालिक निर्युक्ति 298
128	1	दशवैकालिक निर्युक्ति 301
128	2	दशवैकालिक 8/2-3
128	3	दशवैकालिक 8/4
128	4	दशवैकालिक 8/12
128	5	दशवैकालिक 8/15
129	1	दशवैकालिक 8/13
129	2	दशवैकालिक 8/27
129	3	दशवैकालिक 8/40
129	4	दशवैकालिक 8/37
129	5	दशवैकालिक 8/29
130	1	दशवैकालिक 8/30
130	2	दशवैकालिक 8/47
130	3	दशवैकालिक 8/54 - 55 - 56
130	4	दशवैकालिक 8/62

पुस्तक पृष्ठ संख्या	संदर्भ क्रमांक	संदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
130	5	दशवैकालिक 8/63
130	6	दशवैकालिक 8/64
131	1	दशवैकालिक 9/4/7
132	1	दशवैकालिक 9/4/5
132	2	आचारांग निर्युक्ति-16
133	1	आचारांग निर्युक्ति-16
133	2	आचारांग निर्युक्ति-16
133	3	आचारांग निर्युक्ति-17
134	1	उत्तराध्ययन 6/9
134	2	आचारांग निर्युक्ति-17
135	1	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, अष्टप्रवचनमाता पूजा में आदाननिक्षेपणसमिति पूजा
135	2	आचारांग निर्युक्ति-16-17



पुष्प-3

अभिधान राजेन्द्र : आलोचना

अभिधान राजेन्द्र : आलोचना

श्रमण धारा ने सदैव ही आत्मालोचन को साधना का महत्त्वपूर्ण अंग माना है । आलोचना जैन साधना का प्राण है । आलोचना आचरण को निर्मल बनाती है और श्रमण जीवन की सुरक्षा करती है । जैन वाङ्मय में साधक को कदम-कदम पर आलोचना करने का निर्देश है ।

आचारवान् श्रमण आजीवन आलोचना के प्रति सजग रहता है। वह प्रत्येक कार्य में, यहाँ तक कि आहार-जल आदि के उपयोग में, उनकी गवेषणा-अन्वेषणा में ईर्यापथिकी आलोचना करता है ।

आलोचना का इतिहास अति प्राचीन है । युग-युग के साधकों ने आध्यात्मिक निरोगता के लिए उमे उपादेय माना है । श्रमणों ने आलोचना को उपादेय माना है, क्योंकि उसके द्वारा चेतना में अप्रमनता आती है और व्यक्ति को अपनी कमियाँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं । आलोचना आचरण की प्रत्येक गतिविधि पर अपनी दृष्टि जमाती है और उसमें हुई स्खलनाओं के प्रति हमें सजग करती है । इसीलिए आलोचना को श्रमण जीवन के लिए अपरिहार्य माना गया है ।

श्रमण सदैव अन्तर्मुख होता है । इसी अन्तर्मुखता में ही आलोचना का प्रारम्भ होता है । इसीलिए अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा गया है-

जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे ।
जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी ॥[1]

---

1 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ-2712*

जो साधक अनन्यदृष्टा अर्थात् आत्माभिमुख होता है, वह आत्मा में ही रमण करता है और जो आत्मा में रमण करता है, वही आत्मदृष्टा-आत्मसाक्षी होता है । आलोचना अन्य कुछ नहीं, आत्मसाक्षी होना है ।

अहिंसा, संयम और तप धर्म का उत्कृष्ट एवं मङ्गलमय रूप है, परन्तु इनका अवगाहन बिना आलोचना के हो ही नहीं सकता; क्योंकि आलोचना स्वयं अहिंसा है, संयम है और तप है । 'लोचन' शब्द का अर्थ देखना होता है । आलोचना का अर्थ होता है- समग्र रूप से देखना । वह अन्तर् और बाह्य दोनों ओर दृष्टि रखती है । पुनः 'लोचन' देखता है; परिमार्जन नहीं करता; जबकि आलोचना परिमार्जन भी करती है । श्रमण परम्परा में उसे शुद्धि-विशुद्धि का रूप माना गया है ।

शब्द के अर्थ कालक्रम में बदलते रहते हैं; परन्तु श्रमण परम्परा अभी तक आत्म-आलोचना को ही आत्मोत्थान का अभिन्न अङ्ग मानती रही है । यद्यपि अर्वाचीन हिन्दी साहित्य मनीषियों ने आलोचना का अर्थ ग्रन्थ समीक्षा माना है; परन्तु श्रमण परम्परा ने तो अभी तक आत्मिक आलोचना के अर्थ को मान्य रखा है ।

जैनागमों में 'आलोचना' का प्रत्यय अपने आध्यात्मिक अर्थ में ही उपलब्ध होता है और उनमें आलोचना को सदैव ही आत्मशुद्धि के प्रयास के अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाता रहा है ।

वस्तुतः 'आलोचना' श्रमण जीवन का मुख्य अंग है । श्रमण साधक का प्रत्येक क्षण आलोचनामय होता है । बिना उसके वह एक क्षण भी जी नहीं सकता । वस्तुतः श्रमण जीवन ही आलोचना-प्रधान है । आलोचना में आत्मशुद्धि का तत्त्व समाहित है । आलोचना गुरु-शिष्य के बीच की रहस्यमय भूमिका है ।

आलोचना अन्तःकरण की शुद्धि का प्रशस्त मार्ग है । आलोचना जीवन का वह अमृत है; जिसका पान कर साधक अमर

हो जाता है । साधक अपनी भूलों का गुरु के समक्ष सरलमना निवेदन करता है और दोष से बोझिल वह आत्म-आलोचना करके फूल-सा हल्का हो जाता है, जबकि कपट वह विष है; जो आलोचना के अमृत को भी जहर बना देता है । उदाहरण के लिए दो साधकों का अपराध सदृश है, दोनों अपराध की आलोचना भी करते हैं; परन्तु एक सरलता, निष्कपटता से आलोचना करता है तो दूसरा दम्भवृत्ति से । आगमों में दम्भवृत्ति से आलोचना करने वाले के लिए कठोर प्रायश्चित्त का विधान है । इस संबंध में जैनागमों का स्पष्ट उद्घोष है कि जो साधक निष्कपट हृदय से आलोचना करता है उसे अल्प प्रायश्चित्त आता है, जबकि कपट रखकर जो आलोचना करता है, उसे कठोर प्रायश्चित्त आता है । इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है - 'जो श्रमण एक मास के प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करता है, तत्पश्चात् आचार्यादि के समक्ष आलोचना करता है; यदि वह आलोचना निष्कपट भाव से करता है; तो उसे एक मास का प्रायश्चित्त आयेगा; किन्तु यदि वह सकपट आलोचना करता है, तो उसे दो मास का प्रायश्चित्त आता है ।[1]

आलोचना एक प्रकार की आत्मनिंदा है । वास्तव में देखा जाये तो 'आत्मनिंदा' का अर्थ है- स्वदोष-दर्शन । आत्म निरीक्षण और स्वदोष-दर्शन आत्मविकास के महल की प्रथम सीढ़ी है, क्योंकि यही आत्मदर्शन भी है ।

अप्पणो थवणा परेसु निंदा[2]-आत्मप्रशंसा और परनिंदा तो हर कोई कर सकता है । यदि कुछ कठिन है; तो आत्मनिरीक्षण-आत्मालोचना । प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ कमी तो रहती ही

---

1 -जे भिक्खू मासिय परिहारट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउचिय आलोएमाणस्स मासिय पलिउचिय आलोएमाणस्स दो मासिय ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-142

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-327

हे, जिसे अपनी कमियों का बोध नहीं हे, वह उन्हं दूर केस करेगा और न्यूनता दूर किये बिना जीवन मबल, मक्षम और समुन्नत कैसे बनेगा ?

आलोचना एक प्रकार का दर्पण है, जिसमें साधक के जीवन की न्यूनताएँ, दुर्बलताएँ और दोष खुलकर सामने आ जाते हैं और वह निष्कपट भाव से संकल्पपूर्वक उन्हें दूर करने का प्रयास कर सकता है। जीवन को शुद्ध-सात्त्विक, सक्षम और पवित्र बनाने की चेष्टा करता है ।

जैन साधना में आत्मनिंदा, आलोचना का सबसे पहला सोपान है । उत्तराध्ययन में कहा है- **णिन्दणयाएणं पच्छाणुतावं जणयइ**[1]- आत्मनिंदा करने से पश्चात्ताप होता है अर्थात् 'मैंने यह पाप क्यों किया ?' - ऐसा विचार आता है । साधक सामायिक में क्या संकल्प करता है ? **निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि**- मैं अपने दोषों की निन्दा करता हूँ । मैंने जितने भी दूषित कर्म किये हैं, उनकी गर्हा करता हूँ । इसतरह साधक साधना मार्ग में अपने कदम बढ़ाते हुए सर्वप्रथम आत्मनिंदा के द्वार से ही प्रवेश करता है और आत्मनिंदा के द्वारा वह अपने दुर्गुणों को वहीं छाड़ देता है ।

जैन वाङ्मय में तप के बारह प्रकारों का विशद विवेचन उपलब्ध होता है । उनमें प्रायश्चित्त आभ्यंतर तप का प्रथम प्रकार है । प्रायश्चित्त तप के भी दस भेद उपलब्ध होते हैं, जिनमें प्रथम भेद है आलोचना । आलोचना समूचे जीवन व्यवहार का प्रमुख अंग है । चाहे श्रमण हो या श्रावक, प्रत्यक को कदम-कदम पर आत्मालोचना करनी होती है । आलोचना के द्वारा पापों के प्रति घृणा का और गुरुजनों के समक्ष उन्हें म्वीकार करने का मार्ग प्रशम्त होता है ।

1 उत्तराध्ययन 29/6

'आलोचना': व्युत्पत्ति एवं स्वरूप

मूलतः 'आलोचना' शब्द मर्यादार्थक 'आ' उपसर्ग लगने पर 'लोचृदर्शने' धातु से निर्मित है । अभिधान राजेन्द्र कोष में इसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा है- **आ अभिविधिना सकल दोषाणां लोचना गुरुपुरतः प्रकाशना आलोचना**[1] - मर्यादा में रहकर निष्कपट भाव से अपने सभी दोषों को गुरु के समक्ष प्रकट कर देना ही आलोचना है । जैसे कि-

जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोइज्जा, मायामय विप्पमुक्को उ ॥[2]

- बालक जो भी उचित या अनुचित कार्य कर लेता है; वह सब सरल भाव से कह देता है । इसीप्रकार साधक को भी गुरुजनों के समक्ष दंभ और अहंकार से रहित हो कर यथार्थ आत्मालोचना करनी चाहिये ।

साधक जैसा अपने आपको जानता है, वैसा ही अपने को गुरु के समक्ष प्रकट कर देता है; उसी का नाम है आलोचना ।[3] वस्तुतः आलोचना में आत्मनिरीक्षण करना होता है, अपने दोषों को देखना होता है । स्व का निरीक्षण कर स्व का सुधार करना ही आलोचना का मुख्य प्रयोजन है ।

आलोचना के भेद

(क) मूलगुण व उत्तर गुण की अपेक्षा से आलोचना दो प्रकार की होती है- मूलगुणालोचना और उत्तरगुणालोचना । इनके भी अनेक भेद हैं। यथा- चतुष्कर्णा, षट्कर्णा एवं अष्टकर्णा । यदि

1 (क) आसामस्त्येन स्वगताऽकरणीयस्य वागादि योगत्रयेण गुरो पुरो भावशुद्धया प्रकटमालोचना।
(ख) आमर्यादाया लोचृदर्शने आलोचना नाम आलोचना प्रकटना ऋजु भावनेति ।
(ग) आलोचनमालोचना मर्य्यादयाऽलोचन दर्शनमाचार्यादेरालोचनेत्यभिधीयते ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-429

2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 2 पृष्ठ-428 एव 431

3 आलोयणा णाम जहा अप्पणो जाणति तहा परस्स पागड करेइ ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-429

आलोचक आचार्य से आलोचना करे; तो वह चतुष्कर्णा होती है अथवा यदि श्रमण श्रमण से, श्रमणी श्रमणी से आलोचना करे तो वह आलोचना भी चतुष्कर्णा होती है; चूँकि तीसरा व्यक्ति उनके पास नहीं होता । यदि श्रमणी स्थविर श्रमण के पास आलोचना करे तो उस श्रमणी के साथ ज्ञान-दर्शन सम्पन्ना एवं प्रौढ़ वयस्का एक श्रमणी अवश्य रहती है; अतः तीन व्यक्ति होने से यह आलोचना षट्कर्णा कहलाती है । यदि आलोचना दाता श्रमण युवा हो, तो उसके निकट प्रौढ़ वयस्क एक श्रमण भी अवश्य रहता है । अतः श्रमणद्वय और श्रमणीद्वय के समक्ष होने से यह आलोचना अष्टकर्णा मानी जाती है ।[1] यह विवेचन गंभीर दोषों की अपेक्षा से ज्ञातव्य है ।

(ख) विहारादि भेदेन आलोचना त्रिविधा

विहारादि के भेद से आलोचना त्रिविधा भी दर्शायी गयी है। जैसे- विहारालोचना, उपसंपदालोचना और अपराधालोचना ।[2] मूलोत्तर गुण की अपेक्षा से अपराध (दोष) के दो रूप होते हैं- मूलगुणापराधालोचना और उत्तरगुणापराधालोचना । मूलगुणा-पराधालोचना में भी प्रथम प्राणातिपात में षट्जीवकाय विषयक फिर क्रमशः मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह व रात्रिभोजन सम्बन्धी अपराधों की आलोचना और तत्पश्चात् उत्तर-गुणापराधालोचना में समिति गुप्ति सम्बन्धी विपरीत आचरण किया हो, तो उसकी आलोचना करने का विधान जैन वाङ्मय में उपलब्ध होता है ।[3]

---

*1 आलोयणा दुविहा, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
एक्केक्का चउकन्ना, दुवग्ग-सिद्धावसाणा य ॥*
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-430

2 आलोचना त्रिविधा । तद्यथा विहारालोचना, उपसपदालोचनाऽपराधालोचना ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-432

3 इह द्विधा अपराधा (मूल गुणापराधा उत्तरगुणापराधाश्च तत्र उभय सभवे प्रथम) मूल गुणापराधालाचना ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-434

(ग) द्रव्यादि के भेद से चतुर्विधा आलोचना

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि चार प्रकारों मे सेवित पाप की शुद्धि के लिए साधक आलोचना करें। यथा–

द्रव्य से– जिस अकल्पनीय द्रव्य का सेवन किया हो, फिर वह चाहे सचित्त द्रव्य हो, अचित्त द्रव्य हो या मिश्र द्रव्य हो।

क्षेत्र से– जनपद, गाँव, नगर या मार्ग में जहाँ दोष-सेवन किया हो।

काल से– रात या दिन में, दुभिक्ष अथवा सुभिक्ष में दोष सेवन किया हो।

भाव से– प्रसन्नता-अप्रसन्नता, ग्लानावस्था, अहंकार आदि किसी भी परिस्थिति में दोष सेवन किया हो।[1]

इसप्रकार उपर्युक्त दोषों को निश्छल भाव से गुरु के समक्ष प्रकट कर आलोचना के द्वारा आत्मा को विशुद्ध-विमल बना लेना चाहिये।

आवश्यकीय क्रियाओं के गुरु शिष्य दोनों निरीक्षक-परीक्षक

अभिधान राजेन्द्र कोष में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि आलोचना में गुरु शिष्य परस्पर एक दूसरे के परीक्षक एवं निरीक्षक होते हैं। जैसा कि कहा है

आवस्सय, पडिलेहण, सज्झाए भुजणा य भासा य।
वीयारे गेलन्ने, भिक्खग्गहणे पडिच्छंति ॥[2]

आवश्यक, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, भोजन, भाषा, विचार, बहिर्भूमि (मल-मूत्रादि विसर्जन), रुग्णावस्था, भिक्षा ग्रहण आदि

---

1 चेयण (वेयण) सचित्तदव्व जणवयसट्ठाणे होइ खेत्तमि।
दिणनिसिसुभिक्ख दुब्भिक्ख काले भावमिहेट्ठियरे ॥
-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ट-447-449

2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ट-438

की आलोचना के विषय में आचार्य-शिष्य परस्पर एक दूसरे के निरीक्षक-परीक्षक माने गये हैं ।

आलोचना किसकी साक्षी से ?

प्रस्तुत कोष में दस प्रकार के प्रायश्चित्तों पर प्रकाश डाला गया है । उनमें से कुछ प्रायश्चित्त ऐसे हैं (जैसे प्रतिक्रमण) जिनमें अन्तरात्मा से केवल 'मेरे पाप मिथ्या हो' केवल इतना कहने से ही पाप का प्रायश्चित्त हो जाता है, किन्तु कुछ अपराध ऐसे हैं जिनका प्रायश्चित्त गुरुजनों की साक्षी से किया जाता है ।

आलोचना– प्रायश्चित्तकर्ता चाहे शास्त्रों का परम ज्ञाता ही क्यों न हो, किन्तु यदि वह प्रायश्चित्त करना चाहता है, तो लज्जा व गर्व का परित्याग करके गुरु के समक्ष अत्यन्त विनम्र एवं निश्छल भाव से आलोचना करे । 'मैं सम्पूर्ण शास्त्रों का अध्येता हूँ । मुझे किसी के पास जाकर आलोचना करने की क्या आवश्यकता है ?' ऐसा सोचकर यदि गुरु आदि दूसरे लोगों की साक्षी से आलोचना करने में उसे लज्जा-अपमान आदि महसूस होता हो, तो फिर निश्छलता, विनम्रता और सरलता कहाँ रही ? बिना सरलता एवं विनम्रता के आलोचना कैसे सम्भव है ? लौकिक जगत् में भी यह देखा जाता है कि कुशलतम चिकित्सक भी अपना उपचार (इलाज) स्वयं नहीं करता, दूसरों स ही करवाता है । इसी बात को अभिधान राजेन्द्र कोष में सुन्दर ढंग स निम्न पंक्तियों में चित्रित किया है–

छत्तीस गुण सम्पन्ना, गण्णते णावि अवस्स कायव्वा ।
परसक्खिया, विसोही, सुट्ठ वि ववहार कुसलेण ॥
जह कुसलो वि वेज्जो, अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाही ।
विज्जस्स य सोयंतो, पडिकम्मं समारभतो ॥[1]

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ 450

आचार्य के छत्तीस गुणों से समन्वित एवं श्रेष्ठ ज्ञान व क्रिया व्यवहार आदि में विशेष निपुण श्रमण भी पाप शुद्धि, दोषों की आलोचना पर साक्षी से ही करें, अपने आप नहीं। जैसे परम कुशल वैद्य भी अपनी बीमारी दूसरे वैद्य से कहता है, उससे ही चिकित्सा करवाता है एवं उस वैद्य के कथनानुसार कार्य भी करता है; इसी प्रकार आलोचक प्रायश्चित्त विधि में स्वयं दक्ष होते हुए भी अपने दोषों की आलोचना प्रकट रूप से अन्य के समक्ष करें; क्योंकि ऐसा करने से हृदय का सारल्य प्रकट होता है और अन्य को भी शुद्ध होने की प्रेरणा मिलती है।

आलोचना किसके पास ?

आलोचना जीवन का मूलभूत अंग है; परन्तु प्रश्न यह है कि अपने दोषों की आलोचना किसके पास करें ? इसके समाधान में कहा गया है कि यदि कोई श्रमण अपने दोषों की आलोचना करना चाहे; तो सर्वप्रथम गीतार्थ के पास करे, अगीतार्थ के पास नहीं। किन्हीं आचार्यों के मतानुसार आलोचक स्वकृत दोषों की आलोचना औत्सर्गिक रूप से आचार्य भगवंत के पास ही करे।[1] इस सन्दर्भ में 'जीतकल्प' में यह भी उल्लिखित है कि आलोचना सर्वप्रथम अपने आचार्य-उपाध्याय के पास करे। उनकी अनुपस्थिति में अपने सांभोगिक बहुश्रुत-बहुआगमधारी श्रमण के पास, उनके अभाव में समान रूप वाले बहुश्रुत श्रमण के पास, उनके अभाव में पच्छाकडा अर्थात् जो संयमी जीवन से पतित होकर श्रावक व्रत पाल रहा है, लेकिन पहले संयम पाला हुआ होने से उसे प्रायश्चित्त विधि का ज्ञान है ऐसे श्रावक के पास, उनके अभाव में जिनभक्त बहुश्रुत यक्षादि देवों के पास, संयोग से कदाचित् ये भी न हों तो गाँव या नगर के बाहर जाकर पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर (ईशान कोण

---

1 कस्य समीपे आलोचना कर्त्तव्या ? सा आलोचना नियमादवश्य तया गीतार्थस्य सकारो कर्तव्या नाऽगीतार्थस्य अत्रैव मतातरमाह । केषाचिद आचार्याणामिद मत उत्सर्गतस्तावदाचार्यस्य समीपे आलोचयितव्य समीपे आलोएति इति ।

–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-450

की ओर) मुँह करके विनम्र भाव से अञ्जलिबद्ध नतमस्तक होकर अपने दोषों का स्पष्टतः उच्चारण करे ।

इसप्रकार अपने अपराधों को स्पष्ट रूप में बोलते हुए अरिहन्त-सिद्ध परमात्मा की साक्षी से स्वदोषों की आलोचना करे ।[1]

आलोचनादाता की आठ-दस विशिष्टताएँ

उपर्युक्त किन्हीं विशेष परिस्थितियों की बात अलग है; परन्तु सामान्यतः जैन वाङ्मय में आलोचना गंभीर, उदारचेता, बहुश्रुत एवं अनुभवी आचार्य के पास लेने का विधान है । आलोचक के अपराधों को श्रवण करने वाला आलोचनादाता अपने आप में विशिष्टताएँ लिए हुए होना चाहिये । न्यायाधीश के समान निष्पक्षपाती आलोचनादाता कम में कम अष्टविध या दशविध गुण समृद्ध होना चाहिये ।[2] इन्हीं गुणों से संपन्न श्रमण आलोचना देने व श्रवण करने योग्य होता है । वे गुण निम्नांकित हैं :

आयारव आहारव ववहारवऽवीलए पकुव्वीय ।
निज्जव अवायदंसी, अपरिस्सावी य बोधव्वा ॥[3]

-आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, अप्रवीडक, प्रकुर्वक, अपरिस्रावी, निर्यापक, अपायदर्शी और दृढधर्मा ।

1. **आचारवान्-** आलोचनादाता ज्ञानाचार-दर्शनाचारादि पंचाचार सम्पन्न हो ।[4]

---

1 जे भिक्खू अन्नयर अकिच्चणग पडिसेवित्ता इच्छेज्जा आलोइत्तए जत्थेव अप्पणो आयरिय उवज्झाए पासिज्जा पडिवेज्जेज्जासि त्ति वेमि ॥

-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-450-451

2 आलोचनाया अष्टौस्थानका दशस्थानकाश्च । दसहि ठाणेहि सपन्ने अणगारे अरिहइ अत्तदोस आलोयण पडिच्छित्तए त जहा-आयारव आहारव जाव अवायदसी पियधम्मे दढधम्मे ।

-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-458

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5 पृष्ठ-186 एव भाग-2, पृष्ठ-458

4 अभिधान राजन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-458

2. आधारवान्– आलोचनादाता अवधारणा सम्पन्न अर्थात् स्मृति युक्त हो ।[1] आलोचनादाता की स्मृति स्थिर होना जरूरी है । चूँकि गंभीर दोषों को दो-तीन बार श्रवण कर तदनुरूप आगमानुसार उसका प्रायश्चित्त दिया जाता है, अतः स्मृति स्थिर होना जरूरी है । स्थिर स्मृति के अभाव में प्रायश्चित्त देने में न्यूनाधिकता हो सकती है ।

3. व्यवहारवान्– आलोचनादाता आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत इन पाँचों व्यवहारों का ज्ञाता हो । इसके अतिरिक्त उत्सर्ग-अपवाद, विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि का उचित विधि से प्रवर्तनकर्ता हो ।[2]

4. अप्रवीडक– जो अपराधी साधक स्वकृत दोषों की सम्यक् प्रकार से आलोचना करने में संकोच करता हो अथवा लज्जावश दोषों को छिपाने की चेष्टा करता हो; तो आलोचनादाता उसकी लज्जा दूर कर उसे अच्छी तरह आलोचना करानेवाला हो ।[3]

5. प्रकुर्वक– आलोचनादाता आलोचक को आलोचित अपराध या दोष का तत्काल प्रायश्चित्त देकर दोषों की शुद्धि कराने में समर्थ हो ।[4]

6. अपरिस्रावी– आलोचनादाता आलोचक के दोषों को अन्य के समक्ष प्रकट करने वाला न हो ।[5]

7. निर्यापक– आलोचक ने महाअपराध किया हो, किन्तु शारीरिक अशक्ति अथवा अन्य किसी परिस्थितिवश वह एक साथ सम्पूर्ण प्रायश्चित्त लेने या करने में असमर्थ हो; तो आलोचनादाता

---

1 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-458*

2 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-458*

3 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-458*

4 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-458*

5 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-458*

उसे थोड़ा-थोड़ा प्रायश्चित्त देकर उसकी शुद्धि कराने में समर्थ हो ।[1]

8. <u>अपायदर्शी</u>– यदि आलोचक अपराध करने के पश्चात् आलोचना करने में संकोच करता हो अथवा उसे छिपाता हो, तो आलोचनादाता आगमानुसार पारलौकिक भय एवं अन्य दुष्परिणाम दिखाकर उसे आलोचना लेने का इच्छुक बनाने में निपुण हो ।[2]

9. <u>प्रियधर्मा</u>– आलोचनादाता प्रियधर्मी हो ।[3]

10. <u>दृढधर्मा</u>– आलोचनादाता आपत्तिकाल में दृढ़धर्मी हो।[4]

इसप्रकार आलोचनादाता में उपर्युक्त विशेषताएँ होना नितान्त जरूरी है; जिससे आलोचक साधक विश्वास एवं प्रसन्नतापूर्वक आलोचनादाता के पास आलोचना लेकर अपने कृत दोषों की शुद्धि कर सके ।

आलोचना करने योग्य कौन हो सकता है ?

माया, आत्मा की सरलता को समाप्त कर देती है । यदि हृदय में कुटिलता, वक्रता और माया है; तो वहाँ धर्म कैसे ठहर सकता है ? धर्म तो शुद्ध सरल हृदय में ही टिकता है । इसीलिए प्रस्तुत कोष में ठीक ही कहा है-

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ ।[5]

–सरल आत्मा की विशुद्धि होती है और विशुद्ध आत्मा में ही धर्म ठहरता है ।

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-458

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-458

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-458

4 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-458

5 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3, पृष्ठ-1053

जिसन हृदय की कोमलता पायी हे, जीवन में सरलता अपनायी है, वही अध्यात्म पथ का पथिक बन सकता है, वही आलोचना कर सकता है । आलाचक साधक का हृदय नवनीत के समान मुलायम होता है । वह प्रतिपल मजग, सचेत और विवेकशील रहता है ।

साधक स्वविवेक से यह सोचता है कि यदि मैं कृत दोषों की आलोचना नहीं करता हूँ; तो मुझे अनंत बार गर्भ में आना पड़ेगा । सरलता के अभाव में मेरी इस जीवन की कोरी कष्टप्रदायिनी कठोरतमा साधना भी मुझे भव परंपरा से मुक्ति नहीं दिला सकती। विवेकशील आत्मा आत्म-चिन्तन के द्वारा अपने आपको आलोचना लेने योग्य बना लेता है । आलोचक साधक की मनोवैज्ञानिक स्थिति का सुन्दर चित्रण करते हुए कहा गया है कि दस गुणों से सम्पन्न साधक स्वदोषों की आलोचना करने योग्य होता है। वे निम्न हैं- जाति सम्पन्न, कुल सम्पन्न, विनय सम्पन्न, ज्ञान सम्पन्न, दर्शन सम्पन्न, चारित्र सम्पन्न, क्षान्त, दान्त, अमायी और अपश्चात्तापी ।[1]

जाति-सम्पन्न

अणगार का पहला गुण है जाति संपन्नता । प्रथम तो उत्तम जातिवाला व्यक्ति ऐसा कोई दुष्कृत्य करता ही नहीं । अगर भूल से कभी कुछ कर भी लेता है, तो सम्यक्तया शुद्ध हृदय से आलोचना कर लेता है ।[2]

कुल-सम्पन्न

कुलीन व्यक्ति लिए हुए प्रायश्चित्त को संकल्पपूर्वक अच्छी तरह से पूरा करता है ।[3]

---

1 *जाइ सपन्ने कुल सम्पन्ने विणयसपन्ने नाण सपन्ने दसण सपन्ने चरित सपन्ने खते दते ।*
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-458

दसहि ठाणेहि सपन्ने अणगारे अरिहइ अत्तदोस आलोइत्तए । त जहा-जाइ सपन्ने कुल सपन्ने एव जहा अट्ठट्ठाणे खते दते अमायी अपच्छाणुतावी ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-459 एव भाग-5 पृष्ठ-187

2 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-458*

3 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-458 एव भाग-5 पृष्ठ-187*

विनय-सम्पन्न

विनयशील व्यक्ति गुरुजनों की बात मानकर शुद्ध हृदय से आलोचना कर लेता है ।[1]

ज्ञान-सम्पन्न

ज्ञानवान् साधक मोक्षमार्ग की साधना के लिए क्या करना चाहिये और क्या नहीं ? क्या उचित है और क्या अनुचित ? इस बात को अच्छी तरह समझ कर आलोचना कर लेता है ।[2]

दर्शन-सम्पन्न

श्रद्धा सम्पन्न व्यक्ति जिनवाणी पर अटूट विश्वास रखता है । श्रद्धावान् होने के कारण वह आगमों में निर्दिष्ट प्रायश्चित्त से होने वाली शुद्धि को मानता है और आलोचना कर लेता है ।[3]

चारित्र-सम्पन्न-

उत्तम चारित्र से सम्पन्न आत्मा अपने चारित्र को निर्मल रखने के लिए दोषों की भली-भाँति आलोचना करता है । पुनः उस अपराध का सेवन नहीं करता ।[4]

क्षान्त

क्षमाशील पुरुष इतना धैर्यवान् होता है कि किसी दोष-सेवन के कारण गुरुजन यदि उसे कठोर वचनों से ताड़ना-तर्जना करते हैं, तथापि वह रुष्ट नहीं होता; किन्तु अपना दोष स्वीकार कर आलोचना कर लेता है ।[5]

दान्त

दान्त का अर्थ है- इन्द्रियों का दमन करने वाला । इन्द्रियजय सम्पन्न व्यक्ति इन्द्रिय विषय में अनासक्त होने के कारण कठोरतम

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-459 एव भाग-5, पृष्ठ-187

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-459 एव भाग-5, पृष्ठ-187

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2 पृष्ठ-459 एव भाग-5, पृष्ठ-187

4 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2 पृष्ठ-459 एव भाग-5 पृष्ठ-187

5 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-459 एव भाग-5 पृष्ठ-187

प्रायश्चित्त को भी वहन करने में समर्थ होता है और उसे शीघ्र स्वीकार कर लेता है तथा दोषों की आलोचना भी शुद्ध हृदय से करता है ।[1]

अमायी

निर्दम्भी व्यक्ति स्वदोषों को कदापि छिपाता नहीं है । स्व दोषों को बिना छिपाये मुक्त हृदय से अपना अपराध स्वीकार कर वह आलोचना करता है ।[2]

अपश्चात्तापी

अपश्चात्तापी साधक अपने दोषों की आलोचना करने के बाद पश्चात्ताप नहीं करता है । जैसे- 'अरे ! मैंने आलोचना करके बहुत बुरा किया । अब क्या करूँ ?' आदि । वह अपने आपको धन्य और कृत पुण्य मानता हुआ आलोचना करके हृदय में हल्कापन महसूस करता है ।[3]

उपर्युक्त गुणों पर यदि गम्भीरता से चिन्तन किया जाये; तो स्पष्ट विदित होता है कि इनमें से एकाध गुण भी यदि साधक के जीवन में हो; तो वह पाप की ओर कदम रखने में संकोच करेगा और कदाचित् कदम बढ़ा भी दिया; तो दोष स्वीकार कर प्रायश्चित्त के लिए अनवरत तैयार रहेगा ।

आलोचना के दोष

अभिज्ञता या अनभिज्ञता में लगे हुए दोष को आचार्य या गुरुजनों के समक्ष निवेदन करके तदर्थ उचित प्रायश्चित्त लेना आलोचना है । आलोचना का शब्दार्थ है- मर्यादापूर्वक अपने दोषों को सम्यक्तया देखना ।

अधिकांशतः ऐसा देखा जाता है कि बहुत से व्यक्ति निश्छल-निष्कपट भाव से आलोचना नहीं करते हैं । केवल अपनी प्रतिष्ठा,

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-459 एवं भाग-5 पृष्ठ-187

2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-459

3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-459

प्रदर्शन, प्रभाव बढ़ाने के लिए एवं गुरुजनों को खुश करने हेतु आलोचना का मिथ्या दम्भ करते हैं जो कि यथार्थ आलोचना न होकर धूर्तता होती है । यह धूर्तता-चालाकी आलोचना का महादोष है । प्रस्तुत कोष में आलोचना के सन्दर्भ में यह बताया गया है कि यदि आलोचना करते समय मानस स्वच्छ-सरल नहीं है, भीतर गन्दगी छिपी हुई है; तो आलोचना करते वक्त भी दस दोष लगते हैं । आलोचना के दस दोषों का वर्णन करते हुए कहा है-

दस आलोयणा दोस पन्नत्ता, तं जहा अकम्पयित्ता अणुमाणइत्ता, जं दिट्ठं बायरे च सुहुमं वा ।

छन्नं सद्दाउल यं, बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥[1]

-आकम्पयित्ता, भणुमाणइत्ता, दृष्ट, स्थूल, सूक्ष्म प्रच्छन्न, शब्दाकूल, बहुजनश्रुत, अव्यक्त और तत्सेवी ।

आकम्पयित्ता

प्रसन्न करने की मनोवृत्ति यह आलोचना का प्रथम दोष है । आलोचक साधक पहले आचार्यादि की सेवा-भक्ति करके उन्हें प्रसन्न करता है तदनन्तर उनसे दोषों की आलोचना करता है, चूंकि वह यह सोचता है कि सेवा आदि से खुश होने पर गुरु मुझे थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे, लेकिन यह एक तरह से रिश्वत देने जैसी मनोवृत्ति है ।[2]

अणुमाणइत्ता

अनुमान लगाना यह आलोचना का दूसरा दोष है । पहले लघु अपराध की आलोचना लेकर यह अन्दाज लगा लेना कि गुरु उग्र (कठोर) प्रायश्चित्त देते हैं या मृदु । उसके बाद अन्य आलोचना करना अथवा प्रायश्चित्त के भेदों को पूछकर प्रायश्चित्त का अनुमान लगा लेना । तत्पश्चात् आलोचना करना ।[3]

---

1 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2 पृष्ठ-460 एव भाग-5 पृष्ठ-187*

2 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2 पृष्ठ-460 एव भाग-5 पृष्ठ-187*

3 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2, पृष्ठ-460 एव भाग-5 पृष्ठ-187*

दिट्ठं (दृष्ट)

जिस दोष या अपराध को आचार्य अथवा अन्य किसी ने देख लिया हो; उसी दोष की आलोचना करना । शेष अपराधों को उनके समक्ष प्रकट नहीं करना ।[1]

बायरं (स्थूल)

केवल बड़े-बड़े अपराधों की आलोचना करना । लघु दोषों की नहीं ।[2] यह आलोचना का चौथा दोष है ।

सुहुमं (सूक्ष्म)

मात्र छोटे-छोटे दोषों की आलोचना करना । जो अपने छोटे-छोटे अपराधों की भी आलोचना करता है; वह बड़े दोषों को कैसे छिपा सकता है ? दूसरों के दिल पर ऐसा प्रभाव डालने के लिए अथवा गुरुजनों के मन-मस्तिष्क में ऐसा विश्वास उत्पन्न करने के लिए केवल मात्र सूक्ष्म दोषों की आलोचना करना ।[3]

छन्न (प्रच्छन्न)

लज्जालुता का प्रदर्शन करते हुए प्रच्छन्न स्थान में जा कर आलोचना करना और इस ढंग से कि जिसे आलोचनादाता भी न सुन सके, अथवा अस्पष्ट-अस्पष्ट आवाज में आलोचना करना । यह भी आलोचना का दोष है ।[4]

सद्दाउलयं (शब्दाकूल)

दूसरों को सुनाने के लिए ऊँचे स्वर में आलोचना करना ।[5]

बहुजणं (बहुजन)

प्रशंसार्थी बनकर लोगों में अपनी पापभीरूता प्रकट करने के लिए एक ही दोष की अनेक गुरुजनों के पास जाकर आलोचना

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2 पृष्ठ-460 एव भाग-5 पृष्ठ-187
2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-460 एव भाग-5, पृष्ठ-187
3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-460-461 एव भाग-5 पृष्ठ-187
4 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-461 एव भाग-5 पृष्ठ-187
5 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-461 एव भाग-5 पृष्ठ-187

करना ।[1]

अव्वत्त (अव्यक्त)

किस दोष या अतिचार का किसे क्या प्रायश्चित्त दिया जाता है; इस बात का जिसे बोध ही नहीं है; ऐसे अगीतार्थ श्रमण के पास जाकर स्वदोषों की आलोचना करना ।[2]

तस्सेवी (तत्सेवी)

जिस दोष की आलोचना करना है; उसी दोष का सेवन करने वाले गुरु के पास जाकर उसकी आलोचना करना । यह सोचना कि ये स्वयं इस दोष के सेवी हैं; अतः मुझे उलाहना भी नहीं देंगे, न अधिक कुछ कहेंगे और प्रायश्चित्त भी अल्प देंगे । यह भी आलोचना का दोष है ।[3]

इसप्रकार प्रायश्चित्त तप के दस भेदों में आलोचना प्रथम भेद है । आलोचक साधक को उपर्युक्त आलोचना के दस भेदों से बचना चाहिये। एकदम विशुद्धमना आलोचना करनी चाहिये; क्योंकि पापों के प्रति घृणा करना-यही तो जैन धर्म-दर्शन का मूलतत्त्व है।

उक्त दस दोषों के अतिरिक्त आलोचना विधि में कायिक अभिनयों को किंचित् भी महत्त्व नहीं दिया गया है । यहाँ तक कि भाषा के व्यवहार में गृहस्थोचित शब्दों का प्रयोग न करके संयतीय भाषा का प्रयोग करना चाहिये । भाषा में मूकता और मुखरता-इन दोनों को हटाकर आलोचक संयमित भाषा का व्यवहार करे ।[4]

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-461 एव भाग-5, पृष्ठ-187

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-461 एव भाग-5, पृष्ठ-187

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-461 एव भाग-5, पृष्ठ-187

4 आलोचयित्रा एतानि वर्जनीयानि-
णट्ट चल भास भूय तह ढड्डर च वज्जेज्जा ।
आलोएज्जा सुविहिओ, हत्थ मत्थ च वावार ॥
कर पायस्समुह, सीसत्थि उट्ठमाईहिण ढिए णाम ।
चलण हत्थ सरीरे, बलण काए भूयभावे य ॥
अडविय हुज गारत्थिय, भासा उवज्जए मूय ढढ्ढर च सर ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-460

आलोचना करने-न करने के कारण

मायावी पुरुष तीन कारणों से स्वकृत पापों की आलोचना नहीं करता । वह न तो दोष सेवन का प्रतिक्रमण करता है, न आत्मसाक्षी से निन्दा करता है और न गुरुसाक्षी से आत्मगर्हा करता है । यहाँ तक कि उस दोष की विशुद्धि भी नहीं करता और न विचार रूपी जल के द्वारा अतिचार रूपी कर्दम का प्रक्षालन करता है । न वह पुनः उस दोष सेवन को नहीं करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होता है, चूँकि वह यह सोचता है कि जब मैंने अतीत में दोष सेवन किया है; तो अब क्या पश्चात्ताप करना ? उसकी क्या आलोचना करनी ? पुनः वर्तमान में भी उसी अपराध को कर रहा हूँ । बिना उससे निवृत्त हुए आलोचना कैसे हो सकती है ? और अनागत में भी उस अपराध को किये बिना नहीं रह सकता । अतः आलोचना अनावश्यक है । वह यह भी सोचता है कि अपराध के लिए आलोचना करने से लोगों में मेरी यश-कीर्ति घट जायेगी और मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठादि नष्ट हो जायेंगे । लोग मुझे दोषी कहने लग जायेंगे । अतः दोषों की आलोचना नहीं करनी चाहिए ।

मायावी पुरुष तीन कारणों से आलोचना करता भी है । आलोचक के अन्तर्मानस में पहले यह संकल्प जगता है कि यदि मैं स्वकृत दोषों की आलोचना नहीं करता हूँ; तो इस लोक में मेरी निंदा होगी । अतः इहलौकिक निंदा-अपमान से बचने हेतु वह आलोचना करता है । इसके अतिरिक्त वह यह भी जानता है कि आलोचना नहीं करने से मेरा (परलोक) देवलोक भी निंदित और गर्हित होगा तथा मेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी दूषित हो जायेंगे । इसलिए मुझे स्वकृत दोषों की आलोचना कर अपने जीवन को यशस्वी बनाकर रत्नत्रयी की विशुद्धि कर लेनी चाहिये ।[1]

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-465

आलोचना का फल

जिस साधक के जीवन में दम्भ और माया का साम्राज्य है, वह बोलता कुछ और है और करता कुछ और, किन्तु जहाँ मन-वचन और कर्म की एकरूपता होती है, वहाँ जीवन एक खुली किताब की तरह स्पष्ट होता है । जब हृदय निर्मल, निर्दोष व निरपराध होता है; तब जीवन में आनन्द, मन-मस्तिष्क में हल्कापन और हृदय में पवित्रता की अनुभूति होती है, किन्तु मानव-मस्तिष्क में यह जिज्ञासा उद्भूत होना सहज है कि आखिर आलोचना करने से क्या होता है ? किस फल की प्राप्ति होती है ? इसका समुचित समाधान करते हुए प्रस्तुत कोष में कहा है-

आलोयणाएणं मायाणिया । मिच्छादरिसणसल्लाणं मोक्खमग्गविघाणं अणंतसंसारबंधणाणं उद्धरणं करेइ । उज्जुभावं च जणयइ । उज्जुभाव पडिवण्णे वियणं जीवे अमाइ इत्थिवेयं नपुंसकवेयं च न वुच्चइ पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ ।[1]

-जो अपनी भूल का पश्चात्ताप करता है, स्वदोषों की आलोचना करता है; वह अपने शल्य को साफ कर देता है । आलोचना करने से आत्मा मोक्षमार्ग विघातक, अनन्त संसार वर्धक ऐसे माया, निदान और मिथ्या-दर्शन रूप तीन शल्यों को निकाल कर दूर कर देता है । जैसे काँटा निकल जाने पर सुखानुभूति होती है; वैसे ही शल्यत्रय के दूर हो जाने पर अपूर्व आनन्दानुभूति होती है । जब जीवन में निर्दोषता और सरलता आती है, तब अन्तरात्मा प्रफुल्लित हो उठती है । सरलता से मायारहित होता हुआ जीव स्त्रीवेद और नपुसंकवेद का बन्धन नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों को क्षय कर देता है । यही बात निम्नांकित शब्दों में अभिव्यञ्जित है-

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-465

उद्धरियं सव्वसल्लो, आलोइय निंदिओ गुरुसगासे ।
होइ अइरेग लहुओ, उद्धरिय भरुव्व भारवहो ॥[1]

–जो साधक गुरुजनों के समक्ष अन्तर्मन के समग्र शल्यों (काँटों) को निकालकर आलोचना-निंदा (आत्म-निंदा) करता है, उसकी आत्मा उसीप्रकार हल्की हो जाती है; जैसे सिर का भार उतार देने पर भारवाहक । स्वकृत दोषों की आलोचना के अभाव में साधक विराधक माना जाता है । जब तक अपने अपराधों की आलोचना-निंदा या घृणा नहीं की जाती है; तब तक हृदय में शल्य-काँटा चुभता रहता है । इसीलिए यथार्थ ही कहा है-

लज्जाए गारवेण य, जो नाऽऽलोयंति गुरु सगासम्मि ।
धम्मं तं पि सुयसमिद्धा, न हु ते आराहगा हुंति ॥[2]

–जो साधक लज्जा या गर्ववश अपने गुरु के पास जाकर स्वकृत पापों की आलोचना नहीं करता, वह श्रुत से अति समृद्ध होते हुए भी आराधक नहीं होता ।

आलोचक : आराधक-विराधक

जो श्रमण दोष-सेवन की आलोचना किये बिना काल (मृत्यु) को प्राप्त हो जाता है; वह विराधक माना गया है और जो श्रमण स्वकृत पापों की आलोचना करके दिवंगत होता है; वह संयम का आराधक होता है,[3] परन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि यदि आलोचक के अन्तर्मानस में आलोचना करने की भावना प्रबल हो उठी; मन निश्छल बन गया; लेकिन वह आलोचना नहीं कर पाया; तो उस स्थिति में क्या होगा ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि यदि कोई साधक कृत पापों की आलोचना करने की भावना से गुरु के पास जा रहा हो; किन्तु यदि अकस्मात् किसी कारणवश बीच में मृत्यु को प्राप्त हो जाये; तब भी वह आलोचनोन्मुख साधक गुरु

1 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-432*
2 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-136*
3 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2, पृष्ठ-464-465*

से आलोचना लिए बिना भी आराधक ही होता है;[1] क्योंकि उसकी भावना सरल और पाप के प्रति पश्चात्ताप की थी ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आलोचना आत्मशोधन की महाशक्ति है । पश्चात्ताप वह निर्झर है; जिसमें साधक अवगाहन करके अपनी आत्मा को विशुद्ध-विमल बना लेता है ।

---

1 'आलोयणा परिणामओ, सम्मं सपट्ठिओ गुरुसगासं ।
जइ अंतरो उ कालं, करेज्ज आराहओ तह वि ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-263

तृतीय परिशिष्ट

जैन दर्शन वाटिका में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ : अध्ययन/गाथादि

पुष्प-3

अभिधान राजेन्द्र : आलोचना

पुस्तक पृष्ठ सख्या	सदर्भ क्रमाक	सदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
147	1	आचारांग 1/2/6/101
149	1	व्यवहार सूत्र उ. 1/2
149	2	प्रश्नव्याकरण 2/2
150	1	उत्तराध्ययन 29/6
151	1	भगवती सूत्र सटीक 17/3 एवं धर्मसंग्रह सटीक 2 अधिकार
151	2	ओघनिर्युक्ति 801 तथा आतुर प्रत्याख्यान प्रकीर्णक 32
151	3	निशीथ चूर्णि 20
152	1	ओघनिर्युक्ति 790 एवं बृहत्कल्प वृत्ति 12
152	2	व्यवहार सूत्र वृत्ति उद्देश 1
152	3	व्यवहार सूत्र, वृत्ति
153	1	व्यवहार सूत्र, वृत्ति उद्देश-4
153	2	व्यवहार सूत्र, वृत्ति 1
154	1	गच्छाचार प्रकीर्णक गाथा 12-13 एवं ओघनिर्युक्ति-794-795
155	1	पंचाशक सटीक, वृत्ति 15
156	1	व्यवहार सूत्र, वृत्ति उद्देश 1
156	2	भगवती सूत्र सटीक 25/7
156	3	भगवती सूत्र सटीक 25/7
156	4	भगवती सूत्र सटीक 25/7
157	1	भगवती सूत्र सटीक 25/7
157	2	भगवती सूत्र सटीक 25/7

पुस्तक पृष्ट संख्या	संदर्भ क्रमांक	संदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
157	3	भगवती सूत्र सटीक 25/7
157	4	भगवती सूत्र सटीक 25/7
157	5	भगवती सूत्र सटीक 25/7
158	1	भगवती सूत्र सटीक 25/7
158	2	भगवती सूत्र सटीक 25/7
158	3	भगवती सूत्र सटीक 25/7
158	4	भगवती सूत्र सटीक 25/7
158	5	उत्तराध्ययन 3/12
159	1	भगवती सूत्र सटीक 25/7
159	2	भगवती सूत्र सटीक 25/7
159	3	भगवती सूत्र सटीक 25/7
160	1	भगवती सूत्र सटीक 25/7
160	2	भगवती सूत्र सटीक 25/7
160	3	भगवती सूत्र सटीक 25/7
160	4	भगवती सूत्र सटीक 25/7
160	5	भगवती सूत्र सटीक 25/7
161	1	भगवती सूत्र सटीक 25/7
161	2	भगवती सूत्र सटीक 25/7
161	3	भगवती सूत्र सटीक 25/7
162	1	भगवती सूत्र सटीक 25/7
162	2	भगवती सूत्र सटीक 25/7
162	3	भगवती सूत्र सटीक 25/7
163	1	भगवती सूत्र सटीक 25/7
163	2	भगवती सूत्र सटीक 25/7
163	3	भगवती सूत्र सटीक 25/7
163	4	भगवती सूत्र सटीक 25/7

पुस्तक पृष्ठ संख्या	संदर्भ क्रमांक	संदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
163	5	भगवती सूत्र सटीक 25/7
164	1	भगवती सूत्र सटीक 25/7
164	2	भगवती सूत्र सटीक 25/7
164	3	भगवती सूत्र सटीक 25/7
164	4	पंचवस्तुक सटीक गाथा-86-87-88 एवं ओघनिर्युक्ति
165	1	स्थानांग सूत्र सटीक 3 ठाणा
166	1	उत्तराध्ययन 29/5
167	1	ओघनिर्युक्ति 806
167	2	मरणसमाधि प्रकीर्णक 103
167	3	भगवती सूत्र 10/2
168	1	आवश्यक निर्युक्ति 4

पुष्प-4

अभिधान राजेन्द्र : तप

अभिधान राजेन्द्र : तप

भारतभूमि सदैव ही तपस्वि-प्रसविनी रही है । यह वसुन्धरा तपःशूरों-तपःसिद्धों की धरा है । तप आध्यात्मिक जीवन के लिए एक ऊर्जा है । वह जीवन का अमृत है । जीवन की संजीवनी बूटी है । संक्षेप में, वह भारतीय आध्यात्मिक जीवन का प्राण है ।

भारतीय धर्मों में भी विशेष रूप से जैनधर्म की कठोरतम तपः साधना विश्व विश्रुत है । जैनधर्म का संदेश वाहक निर्ग्रन्थ श्रमण कठोर तप साधना का प्रतीक माना गया है । अगर यह कहें तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि जैन श्रमण तप की जीती जागती प्रतिमा भी है । संसार से विरक्त श्रमण स्वतः ही तपस्वी हो जाता है । विरक्ति और तपस्विता श्रमण जीवन के अपरिहार्य तत्त्व हैं ।

'श्रमण' शब्द ही 'श्रमु' तपमि खेदे च' धातु से निर्मित है । अभिधान राजेन्द्र कोष में 'श्रमण' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है- **श्राम्यतीति श्रमणः** अथवा **श्राम्यति-संसार विषय खिन्नो भवति तपस्यतीति श्रमणः**[1] - जो श्रम करता है अर्थात् तपः साधना करता है, तप से शरीर को खेद खिन्न करता है, वह श्रमण कहा जाता है ।

वास्तविकता तो यह है कि जब मंसार की असारता को जानकर मनुष्य तपस्वी बनता है, तब वह 'श्रमण' कहलाता है । श्रमण अगारों (गृहस्थों) के अपायों (बाधाओं) मे मुक्त होता है, वह

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-7 पृष्ठ-410

तप:शूर होता है। जैसा कि कहा है- **तवसूरा अणगारा**[1] - अणगार तपः शूर होते हैं । यह उक्ति जैन श्रमणों पर पूरी तरह चरितार्थ होती है । यथा- तपः शूर-तपः सिद्ध दृढ़प्रहारी, जो अपने चौर्य कर्म में अपनी क्रूरता के लिए प्रसिद्ध था और 'दृढ़प्रहारी' कहा जाता था, दीक्षित हो तपश्चरण द्वारा छह मास में ही उसने अपने कर्मों का अन्त कर दिया ।[2] इसीतरह तपः पूत धन्ना अणगार की यशोगाथा का उल्लेख पूज्यपाद विश्वपूज्य ने अपनी 'श्री सिद्धचक्र पूजा' में किया है ।

षट् अभ्यन्तर भेद बताये, षट् बाहिर परिमाण किया ।
इस पद सेवक धन्ना प्रमुख के, जिनपति वीर वखाण किया ॥[3]

जैनपरम्परा में देह की अपेक्षा मानसिक एवं आत्मिक विकास पर अत्यधिक बल दिया गया है । यद्यपि तप करने से शरीर थोड़ा कृश अवश्य होता है, किन्तु व्यक्ति एक मानसिक ताजगी को महसूस करता है । उसकी आत्मा का सौन्दर्य निखरने लगता है । तप का मुख्य ध्येय वासनाओं एवं विकारों का शोधन है । वह हमारे अन्तर्तम को शोधने की एक वैज्ञानिक प्रणाली है । **सोहओ तवो**[4]-तप आत्मा की विशुद्धि करने वाला है एवं **तवेण परिसुज्झइ**[5]-आत्मा तप से पूर्वकृत कर्मों का क्षय करके परिशुद्ध होती है । इन सूक्तियों में यही संकेत छिपा है कि तप से आत्मा निर्मल, पवित्र एवं विशुद्ध होती है । यह जैनधर्म का अटल सिद्धान्त है कि बिना विशुद्धि के सिद्धि नहीं मिलती ।

1 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2207*

2 *न किलिम्मइ जो तवसा, सो तवसिद्धो दढप्पहारिव्व ।*
सो कम्मक्खयसिद्धो, जो सव्वक्खीण कम्म सो ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4 पृष्ठ-2207

3 *जिनेन्द्र पूजा सग्रह, सिद्धचक्र पूजा मे तपपद पूजा*

4 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-444*

5 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-448*

पुरातन काल से बन्धे हुए कर्मों का क्षय भी तप के द्वारा ही होता है । जैसा कि अभिधान राजेन्द्र कोष में प्रस्तुत रूपक के माध्यम से स्पष्ट किया गया है । जिसप्रकार किसी महासरोवर को जल से रिक्त करने के लिए सर्वप्रथम जल के आने के मार्ग रोके जाते हैं, तदनन्तर कुछ जल उलीच-उलीच कर बाहर फेंका जाता है और कुछ सूर्य की तेज धूप से सूख जाता है; वैसे ही संयमी पुरुष व्रतादि के द्वारा नये कर्मास्रवों को रोक देता है और पुराने करोड़ों जन्मों के संचित कर्मों को तप के द्वारा सर्वथा क्षीण कर डालता

वस्तुतः तप के प्रभाव से आत्मा अपने कर्मों के आवरण से मुक्त हो जाती है । अन्तर् में शुभ भावनाओं का दिव्य प्रकाश जगमगाने लगता है, विषय वासनाओं का विष नष्ट हो जाता है । आत्मा कर्म मल से सर्वथा रहित हो जाती है । जैसा कि कहा गया है-

जह खलु मइलं वत्थं, सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं ।
एवं भावुवहाणेण सुज्झए कम्मट्ठविहं ॥[2]

-जिसप्रकार जल आदि शोधक द्रव्यों से मलिन वस्त्र भी शुद्ध हो जाता है, उसीप्रकार आध्यात्मिक तप साधना द्वारा आत्मा ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्ममल से मुक्त हो जाती है ।

न केवल जैन वाङ्मय ने, प्रत्युत तप की सार्वभौमिकता को समग्र भारतीय वाङ्मयों ने एकस्वर से स्वीकार किया है । तप के स्वरूप एवं भेद-प्रभेदों के सम्बन्ध में मतभेद जरूर हो सकता है, किन्तु **तपो हि परमं श्रेयः** के विषय में कोई विवाद नहीं है । यह

1 जहा महा तलागस्स, सन्निरूद्धे जलागमे ।
उस्सिचणाए तवणाए, कमेण सोसणा भवे ॥
एव तु सजयस्साऽवि, पावकम्म निरासवे ।
भव कोडि सचिय कम्म, तवसा निज्जरिज्जइ ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2199 एव 2200 एव भाग-1, पृष्ठ-321

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृष्ठ-1076

अलग बात है कि किसी ने स्वाध्याय को परम तप माना तो किसी ने क्षमा को । वैदिक वाङ्मय में **स्वाध्यान्न परमं तपः** - स्वाध्याय से बढ़कर कोई तप नहीं है और **तपो हि स्वाध्यायः**[1]- स्वाध्याय स्वयं एक तप है, कहकर स्वाध्याय तप को प्रमुखता दी है; तो दूसरी ओर बौद्ध वाङ्मय ने **खंति परमं तपो तितिक्खा**[2]- क्षमा को परम तप माना है ।

न केवल वैदिक ग्रन्थों में, अपितु जैनागमों में भी स्वाध्याय तप पर अत्यधिक बल दिया गया है ।

जैन वाङ्मय में तप की महिमा

जैन वाङ्मय में तप की अपार महिमा गायी गयी है । उसमें यत्र तत्र तप के माहात्म्य की स्वर लहरियाँ झंकृत होती हैं । रूपक के माध्यम से तप के माहात्म्य का चित्रण करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा गया है-

तवो जोई जीवो जोइ ठाणं,
जोगा सुया सरीरं करी सग्गं ।
कम्म एहा संजम जोग संती,
होमं हुणामी इसिणं पसत्थं ॥[3]

-तप जिसकी ज्योति अर्थात् अग्नि है, जीव ज्योति=अग्नि स्थान है, मन, वचन, काया के योगस्रुवा आहुति देने की कड़छी है । शरीर करीषांग=अग्नि प्रज्ज्वलित करने का साधन है, कर्म जलाए जाने वाला ईन्धन है और संयमयोग शान्तिपाठ है; ऐसे ऋषियों द्वारा प्रशंसित यज्ञ को मैं करता हूँ ।

जैसे पौष्टिक भोजन करने पर शरीर में कान्ति, शक्ति व स्फूर्ति बढ़ती है । भीतर में शक्ति बढ़ने पर बाहर भी विशिष्ट

---

1 तैत्तरिय आरण्यक 2/14
2 धम्मपद 14/6
3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-7 पृष्ठ-1192

ओज-तेज दमकने लगता है । ठीक वैसे ही, तप तपा हुआ व्यक्ति भी छुपता नहीं है । तप के द्वारा जो तेज प्रकट होता है, उसका बाहर भी स्वतः ही प्रभाव दिखने लगता है । इस सम्बन्ध में अभिधान राजेन्द्र कोष में यथार्थ ही कहा है-**सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो, दीसई जाइ विसेसो कोई**[1]-तप का विशिष्ट प्रभाव संसार में साक्षात् दिखाई देता है जबकि जाति की तो कोई विशेषता नजर नहीं आती । इस कथन में तप की महिमा का कितना सुन्दर वर्णन किया गया है ।

वास्तव में जैन आचार की जननी तप है । यह धर्म का तीसरा अंग एवं मोक्ष का मार्ग भी माना गया है । कर्म रूपी ईन्धन को जलाने में अग्नि के समान और ध्यान रूपी पवन से युक्त यह अनुपम-अलौकिक तप समग्र दुःखों का नाशक है । विश्वपूज्य के शब्दों में-

कर्म दहन अग्नि समो, ध्यान अनिल अति पूर ।
नवमो तप पद पूजिए, दुःख हरे सवि दूर ॥[2]

श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी महाराज ने भी श्री विशंतिस्थानक पद पूजा में तप की अपार महिमा को सहज सुबोध शैली में चित्रित किया है ।[3] इसीतरह 'जयन्तसेन सतसई' में भी तप के माहात्म्य की सुन्दर झलक दृष्टिगत होती है ।[4]

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-1191

2 जिनेन्द्र पूजा सग्रह, सिद्धचक्र पूजा मे तपपद पूजा

3 ऋद्धि-वृद्धि जेहथी हुवे, करे कर्मनी हाण ।
प्रकट करे कल्याण ने, तप पद पूज सुजाण ॥
कर्म निकाचित खेपवे, लब्धितणो भण्डार ।
गणधर आगम उपदिश्यो, तप महिमा श्रीकार ॥
—जिनेन्द्र पूजा सग्रह, विशति स्थानकपद पूजा मे तपपद पूजा

4 तप का बल जग मे बडा, तप से कटते कर्म ।
जयन्तसेन तपे बिना, मिले न आतम मर्म ॥
—जयन्तसेन सतसई, पृष्ठ-25

जिसप्रकार तपस्वी तप के द्वारा कर्मों को धुन डालता है, उसीप्रकार तप का अनुमोदन करने वाला भी अपने कर्मों का नाश करता है ।[1] जैन परम्परा में तपश्चरण करने वाले की भाँति ही तप का अनुमोदन करने वाले को भी महत्त्व दिया गया है ।

तप का मूल धृति-धैर्य है ।[2] यद्यपि तप का आचरण करना तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है[3] तथापि साधक को यह प्रेरणा दी गयी है कि वह संयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा को भावित करे ।[4] इसका कारण यह है कि जहाँ तप है, वहाँ नियम से संयम है और जहाँ संयम है, वहाँ नियम से तप है ।[5] अतः शास्त्रज्ञान में कुशल साधक भी तप-संयम रूप पवन के बिना संसार से तैर नहीं सकता ।[6]

इससे यह सिद्ध होता है कि जैनधर्म-दर्शन में तप की अपार महिमा वर्णित है और वह अपने आप में अनूठी है । तप सभी सिद्धियों का मूल स्रोत है । यहाँ तक कि इससे सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं - **तपसा सर्वाणि सिद्ध्यन्ति** ।[7] न केवल तप से कार्य सिद्ध होते हैं, प्रत्युत तप जीवन शुद्धि और सिद्धि का प्रमुख साधन भी माना गया है ।

1 जहा तवस्सी धुणुते तवेण, कम्म तहा जाण तवोऽणुमता ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-180

2 तवस्स मूल धिती'
—निशीथ चूर्णी 84

3 असिधरागमण चेव, दुक्कर चरिउ तवो ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-295

4 सजमेण तवसा अप्पाण भावे माणे विहरति ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-72

5 यत्र तप तत्र नियमात् सयम ।
यत्र सयम तत्रापि नियमात् तप ॥
—निशीथ चूर्णी 3332

6 निउणो वि जीव पोओ, तव सजममारूय विहूणो ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3, पृष्ठ-1127

7 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2489

वैदिक वाङ्मय में तप का स्थान

वैदिक धर्म में भी तप के माहात्म्य का चित्रांकन खूब किया गया है । वहाँ सृष्टि की उत्पत्ति का मूल स्रोत तप माना गया है ।

कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीयब्राह्मण में यह बताया गया है कि प्रजापति ने पुनः-पुनः तप किया, जिससे क्रमशः सृष्टि की रचना हुई ।[1]

मनुस्मृति में तो यहाँ तक कहा है कि संसार में जो कुछ है सो तप ही है ।[2] मनुष्यों और देवताओं के सभी सुखों का मूल भी तप ही है ।[3] इतना ही नहीं, अपितु **तपो ब्रह्मेति**[4]- तप स्वयं ही भगवान् है । महाभारत में भी तप की महत्ता परिलक्षित होती है । महाभारत में स्वर्ग के सात द्वारों में प्रथम द्वार तप बतलाया गया है ।[5] इसप्रकार वैदिक वाङ्मय में यत्र-तत्र तप की महत्ता पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है ।

बौद्ध वाङ्मय में तप की गरिमा

वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त बौद्ध वाङ्मय में भी तप की गरिमा के विषय में सुन्दर चिन्तन किया गया है । संयुक्त निकाय के एक सूक्ति में यह कहा गया है कि **तपो च ब्रह्मचरियं च सिनान मनोदकं**[6] - तप और ब्रह्मचर्य बिना पानी का स्नान है । इसीतरह बुद्ध ने कहा है- **सद्धाबीजं तपो वुट्ठि**[7] - श्रद्धा मेरा बीज है, तप मेरी वर्षा है । इसप्रकार अनेक सूक्तियों में तप की गरिमा की स्पष्ट झलक परिलक्षित होती है ।

1 कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय ब्राह्मण 2/219

2 मनु स्मृति 11/239

3 'तपोमूलमिद सर्व दैव मानुषक सुखम् ।
-मनु स्मृति 11/235

4 तैत्तिरीय आरण्यक 1/2

5 महाभारत आदि पर्व 90/22

6 सयुक्त निकाय 1/1/58

7 सुत्त निपात 1/4/2

यद्यपि अन्य आस्तिक धर्म दर्शनों की भाँति बौद्ध धर्म मं तप को कठोर देह दण्ड के अर्थ में नहीं लिया गया है; प्रत्युत चित्त-शुद्धि के प्रयास के अर्थ में ही किया गया है । यहाँ यह स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि जैनधर्म में भी तप को केवल देह दण्ड के अर्थ में ही स्वीकार नहीं किया गया है । बाह्य तप के साथ आभ्यन्तर तप पर भी बल दिया है । जैनधर्म में अज्ञान तप का नहीं, ज्ञानपूर्वक तप का महत्त्व है । बुद्ध के जीवन की एक घटना के सन्दर्भ में बताया गया है-एक अनुभवी गायिका किसी नवशिक्षिता युवती से कह रही थी-'देखो, सितार के तारों को इतना ढीला न छोड़ो कि वे बजे ही नहीं और न इतना ज्यादा कसो कि वे टूट जाये ।' इसी विचार से प्रेरित हो बुद्ध ने कठोर दण्ड का मार्ग परित्याग कर 'मध्यम मार्ग' अपनाया । बौद्धों का मध्यम मार्ग सुविख्यात है ।

तप की सीमा

जैन वाङ्मय के **कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं**[1] 'तप के द्वारा अपने को कृश करो, तन-मन को हल्का करो; अपने को जीर्ण करो, भोग वृत्ति को जर्जर करो' की बात जहाँ सामने आती है, वहाँ व्यक्ति मौन हो जाता है । आज के इस भौतिक युग की चकाचौंध में मानव अपने सुकोमल शरीर को तनिक भी कष्ट देना नहीं चाहता है । अतः **एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं**[2]- 'आत्मा को शरीर से पृथक् जानकर भोगलिप्त शरीर को तपश्चरण के द्वारा धुन डालो' की बात सुनकर तो वह काँप उठता है ।

किन्तु उपर्युक्त कथनों में गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है । शरीर पुद्गल को कृश करने का तात्पर्य आत्मा की शक्ति को कुण्ठित करने वाले कर्म दलों को या कषायों को कृश करना है । केवल तन को जीर्ण करने से क्या लाभ है यदि कषाय जीर्ण नहीं हुए तो ? इसीतरह 'आत्मा को शरीर से भिन्न समझ कर कर्म शरीर को धुन

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-493

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-493

डालो' की बात कही गयी है। कर्मों को धुन दिया तो आत्मा स्वतः निज रूप में प्रकट हो जायेगी। शरीर और आत्मा का यह भेद समझ पाना ही आत्म विज्ञान है।

यह नितान्त सत्य है कि जैनधर्म में कष्ट को सहन करना महान् फलप्रद माना है, लेकिन यह मात्र देह को तपाने तक ही सीमित नहीं, देह के साथ मन को भी तपाना आवश्यक है। अन्तरङ्ग शुद्धि के बिना केवल देह को दण्ड देना जैनधर्म को मान्य नहीं है, किन्तु तप के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण ही 'जैन धर्म शरीर, मन व इन्द्रियों को मारने की, सुखाने की और देह दमन की बात कहता है' आदि-आदि अनेक गलत धारणाएँ आज मानव के मन-मस्तिष्क में पैठ गयी है, जिन्हें निर्मूल करना आवश्यक है।

वास्तविकता तो यह है कि जैन धर्म में तप का अर्थ केवल देह को सुखा देना मात्र नहीं है और न केवल उपवास आदि तक ही सीमित है। जैनधर्म मन व इन्द्रियों को मारने की नहीं, उन्हें साधने की बात कहता है। मन व इन्द्रियों को मारना नहीं है, प्रत्युत उन्हें सम्यक्तया साधना है।

तप कैसा व क्यों करना चाहिये ? इस संबंध में अभिधान राजेन्द्र कोष में स्पष्ट उद्घोषणा की है-

सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइं।
जेण न इंदिय हाणी, जेण न जोगा न हायंति ॥[1]

-वही तप करना चाहिये, जिससे कि मन अमंगल न सोचे, इन्द्रियों की हानि न हो और नित्यप्रति के मानसिक-वाचिक-कायिक योग एवं धार्मिक क्रियाओं में बाधा न आये।

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए दशवैकालिक में कहा है-

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2200-2204

बलं थामं च पेहाए, सद्धामारोग्गमप्पणो ।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥[1]

–अपना मनोबल, शारीरिक शक्ति–दृढ़ता, श्रद्धा, स्वास्थ्य तथा क्षेत्र व काल को सम्यक्तया देखकर ही आत्मा को तपश्चरण में लगाना चाहिये । वास्तव में, तप वैसा ही करना चाहिये, जिसमें दुर्ध्यान न हो, योगों में (मानसिक–वाचिक–कायिक योग) हानि न हो तथा इन्द्रियाँ क्षीण न हो ।[2] तप के विषय में आचार्य जिनसेन का भी कितना स्पष्ट चिन्तन है– 'मुमुक्षु साधकों को यह शरीर न तो केवल कृश और क्षीण ही करना चाहिये और न रसीले एवं मधुर मनचाहे भोजनों से इसे पुष्ट ही करना चाहिये ।'[3] यथाशक्ति तप करना हितकर है । तप करने पर भी यदि राग–द्वेष बने रहें, राग–द्वेष की मात्रा में न्यूनता न हो, तो उस तपश्चरण से भी क्या लाभ ? और यदि राग–द्वेष सर्वथा निर्मूल हो चुके हैं, तो फिर ऐसी स्थिति में भी तप करने का क्या औचित्य ?[4] वस्तुतः तपश्चरण के पीछे राग–द्वेष की परिणति न्यून हो, यही उद्देश्य रहा हुआ है ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि तप के सम्बन्ध में जैन धर्म हठवादी नहीं, समन्वयवादी है । वह केवल बाह्य तप का ही आग्रह नहीं करता और न केवल आभ्यन्तर तप का ही । वह तो प्रत्येक परिस्थिति में साधक को समन्वयवादी–सन्तुलनवादी दृष्टि देता है ।

1 दशवैकालिक 8/35

2 तदेव हि तप· कार्यं, दुर्ध्यान यत्र नो भवेत् ।
येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च ॥
–अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2202

3 न केवलमय काय·, कर्षनीयो मुमुक्षुभि·
नाप्युत्कट रसै· पोष्यो, मृष्टै रिष्टैश्च वल्भनै· ॥
–आचार्य जिनसेन

4 राग-द्वेषौ यदि स्याता, तपसा किं प्रयोजनम् ?
तावेव यदि न स्याता, तपसा किं प्रयोजनम् ? ॥
–अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-104

विवेकपूर्वक तप करना ही जैन धर्म के तप की मर्यादा है । यह तप के सम्बन्ध में सन्तुलित दृष्टिकोण है । इसे दृष्टिपथ में रखकर ही साधक को निज शक्ति व रूचि के अनुसार सदैव बाह्याभ्यन्तर तप का आचरण करने का निर्देश दिया गया है ।

'तप' शब्द की व्युत्पत्ति

अभिधान राजेन्द्र कोष में 'तप' की व्युत्पत्तिपरक परिभाषा, उसके प्रकार व तप का उद्देश्य इत्यादि के सम्बन्ध में विशद विवेचना की गयी है। अतः उनका भी संक्षेप में अवलोकन करना समीचीन होगा। 'तप' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है–

तप्यतेऽनेनेति तपः[1] – जिसके द्वारा तपा जाये, वह तप है ।

तापयति कर्म दहतीति तपः[2] – जो कर्मों को तपाता है, जलाता है, वह तप है ।

तापयति अष्ट प्रकारं कर्मेति तपः[3] – जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता है, उसका नाम तप है ।

तप की परिभाषाएँ

(अ) तप की शाब्दिक परिभाषा– प्रस्तुत कोष में 'तप' को जिन परिभाषाओं में बांधने का प्रयास किया गया है, वे निम्नांकित हैं–

ताप्यन्ते रसादिऽऽधातवः कर्माणि वा अनेनेति तपः[4]

–जो रसादि धातुओं को अथवा कर्मों को तपाता है, उसे 'तप' कहा जाता है । इसीतरह तप का निरूक्त (शाब्दिक अर्थ) करते हुए एक और परिभाषा दी गयी है–

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2199

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2199

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2199

4 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2199

रस रूधिर मांसमेदोऽस्थिमज्जा शुक्राण्यनेन ताप्यन्ते कर्माणि वाऽशुभानि इति अतस्तपो नाम निरुक्तम् ।[1]

–जिस अनुष्ठान या साधना से शरीरगत रस, रक्त, माँस, चर्बी, अस्थि, मज्जा और शुक्र से सातों धातु तपाये जाते हैं अथवा जिसके द्वारा अशुभ कर्मों को तपाया जाता है, उसका नाम 'तप' है । यह तप की शाब्दिक परिभाषा है, जिसे संस्कृत में 'निरुक्त' कहते हैं । इसके अतिरिक्त तप की यह भी परिभाषा की जा सकती है– **देहे दुक्खं महाफलं**[2]–देह का दमन करना तप है, वह महान् फलप्रद है अर्थात् क्षुधा, पिपासा आदि परिषहों को (शारीरिक कष्टों को) समतापूर्वक सहना भी तप है, इससे मोक्ष फल की प्राप्ति होती है । यह भी तप की शाब्दिक परिभाषा हुई ।

(आ) तप की भाव प्रधान परिभाषा

प्रस्तुत कोष में न केवल तप की शाब्दिक परिभाषा दी गयी है, प्रत्युत भावपरक–अर्थपरक परिभाषा भी प्रस्तुत की गयी है । वह इसप्रकार है–**छंद णिरोहेण उवेति मुक्खं**[3]–इच्छा निरोध (इच्छाओं को रोकने) रूपी तप से ही मोक्ष प्राप्त होता है । प्रकारान्तर से पूर्वाचार्यों द्वारा यह परिभाषा भी दी गयी है :– **इच्छानिरोध–स्तपः**–उद्देश्यपूर्वक इच्छाओं का निरोध करना ही तप है । इस परिभाषा का संकलन अभिधान राजेन्द्र कोष में भी उपलब्ध होता है– **पच्चक्खाणेण इच्छानिरोहं जणयइ**[4] प्रत्याख्यान–त्याग करने से इच्छाओं का निरोध हो जाता है । त्याग से आशा–तृष्णा व इच्छाओं का शमन हो जाता है । अन्यथा इच्छाएँ तो आकाश के समान अनन्त हैं ।[5] उनका कोई ओर छोर नहीं । उन पर विजय पाना बड़ा मुश्किल है ।

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2199

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-643

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-60

4 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-103

5 इच्छा हु आगास समा अणंतिया ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-1817

जैन परम्परा में तप का क्षेत्र बहुत ही व्यापक हैं । तप का अर्थ केवल भूखे रहना या दैहिक कष्ट सहन कर लेने तक ही सीमित नहीं है, अपितु उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि जैन परम्परानुसार अपनी इच्छाओं को नियन्त्रण में लाना ही तप है । इसी बात को विश्वपूज्य ने श्री सिद्धचक्र पूजा में सारगर्भित शैली में रूपक के माध्यम से चित्रित किया है । उन्हीं के शब्दों में-

इच्छारोधनी तोप बनाई, करम कोटकुं उड़ायो[1]-

इच्छानिरोध-तप रूपी तोप के द्वारा कर्म रूपी किले को ध्वस्त किया जा सकता है ।

उपर्युक्त शाब्दिक एवं भावपरक परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तपश्चरण से एक ओर देह क्षीण होती है, तो दूसरी ओर कर्म भी निर्मूल होते हैं । इसप्रकार तप देहगत और आत्मगत दोनों दृष्टियों से सार्थक है ।

तप के दो रूप

प्रस्तुत कोष में तप के विविध रूपों की चर्चा की गयी है, लेकिन मुख्यतः तप के दो रूप चर्चित हैं- **दुविहे तवे पण्णत्ते-तं जहा-बाहिरए, आब्भिंतरिए य**[2]-बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। बाह्य तप हमारी देह पर प्रभाव डालता है तो आभ्यन्तर तप-आत्मा व मन पर । जैन परम्परा में तप की विधि बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होती गयी है । वह बाहर से भीतर की ओर बढ़ती है । आभ्यन्तर तप से मानसिक विशुद्धि, सरलता व एकाग्रता की विशेष साधना होती है, तो बाह्य तप द्वारा साधक अपने तन-मन को साध लेता है, सहिष्णु बना लेता है और उसके दोषों का संशोधन कर लेता है । बाह्य तप से आभ्यन्तर तप की ओर बढ़ने के लिए बाह्य तप का क्रम प्रथम रखा गया है ।

1 जिनेन्द्र पूजा सग्रह, सिद्धचक्र पूजा मे तपपद पूजा

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2200

बाह्य तप का स्वरूप

बहिर्भवं बाह्यम्[1]- यानि स्पष्ट निगाहों से दिखने वाला । बाह्य तप बाहरी वस्तु के त्याग की अपेक्षा रखता है । जिसकी कष्टमयता जनसाधारण जान सकते हैं और जो मुख्य रूप से शरीर (कार्मण शरीर) को तपाये, उसे बाह्य तप की संज्ञा दी गयी है ।[2]

अनशनादि बाह्य तप के आचरण से इन्द्रियों का दमन सहजतया हो जाता है, चित्त की चञ्चल वृत्तियों पर नियन्त्रण करने का सामर्थ्य प्रकट होता है और शरीर कष्ट सहिष्णुता का अभ्यस्त हो जाता है । बाह्य तप के छह भेद हैं- अनशन, ऊनोदरिका, वृत्ति संक्षेप (भिक्षाचरी) रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता ।[3]

बाह्य तप के छह प्रकार

1. अनशन तप

अश्यते भुज्यते इत्यशनम्[4] जिसमें खाया जाता है, उसे 'अशन' कहते हैं । **न अशनं इति अनशनं** अशन, पान, खादिम और स्वादिम-इन चारों प्रकार के आहार का सम्पूर्ण रूप से त्याग करना 'अनशन' कहलाता है ।[5]

इत्वरिक अनशन तप

अनशन तप के दो भेद हैं- इत्वरिक अनशन और यावत्कथिक अनशन ।[6] इत्वरिक अनशन अल्प समय के लिए होता है, और

---

1 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-1321*

2 *बाह्यमित्या सेव्यमानस्य लौकिकैरपि तपस्तया-ज्ञायमानत्वात्प्रायो बहि शरीरस्य तापकत्वाद्वा तपसिदुनोति शरीर कर्माणि यत्तत् तप इति ।*
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-1321

3 *अणसणमूणोयरिया, वितिच्छेओ रसस्स परिचाओ ।*
कायस्स परिकिलेसो, छट्ठो सलीणया चेव ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-137 एव भाग-4, पृष्ठ-2200

4 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-303*

5 *सव्वो वि य आहारो, असण सव्वो वि वुच्चए पाण ।*
सव्वो वि खाइम चिय, सव्वो वि य साइम होइ ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-303

6 *अणसणे दुविहे पणत्ते । त जहा-इत्तरिए य आवकहिए य ।*
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-302

यावत्कथिक अनशन जीवन पर्यन्त के लिए होता है । इत्वरिक अनशन सावकांक्ष होता है, क्योंकि उसमें समय की मर्यादा रहती है । निश्चित समय के पश्चात् ही आहार की इच्छा होती है अथवा आहार ग्रहण किया जाता है । जबकि यावत्कथिक तप में आजीवन भोजन की आकांक्षा नहीं रहती । उसमें जीवन पर्यंत सम्पूर्ण आहार का त्याग होता है । इसलिए उसे निरवकांक्ष तप कहा गया है ।[1]

इत्वरिक अनशन तप अनेक प्रकार का है । यथा–चतुर्थ–भक्त {अर्थात् उपवास से एक दिन पूर्व एकासन, उपवास के दिन दो समय भोजन का त्याग और पारणे के दिन फिर एकासन करना । इस प्रकार चार समय के भोजन के त्याग को चतुर्थ भक्त कहते हैं ।} छट्ठ–भक्त, अट्ठम–भक्त, दसम–भक्त आदि से लेकर एक–एक दिन बढ़ाते हुए छः मास पर्यन्त का उपवास 'इत्वरिक अनशन' तप माना गया है ।[2]

परवर्ती परम्परा की अपेक्षा से दो घड़ी {48 मिनिट} यानि नवकारसी से लेकर छः मास पर्यन्त का उपवास 'इत्वरिक अनशन' तप में आता है ।[3]

श्रमण भगवान् महावीर के तीर्थकाल में इत्वरिक अनशन तप उत्कृष्ट छः मास का होता है । बीच के बाईस तीर्थङ्कर के

1 इत्वरमेव इत्वरक स्वल्पकाल नियतकालावधिकमित्यर्थः, मरणावसान कालो यावज्जीवमित्यर्थः।

इत्तरिय मरणकाला य, अणसणा दुविहा भवे ।
इत्तरिया सावकखा, निरवकख वेइज्जिया ॥

अनशन द्विविध द्विप्रकार भवेत् पुनर्मरणकालम् ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-302-303

2 इत्तरिए अणेगविहे पणत्ते । त जहा- चउत्थेभत्ते छट्ठे भत्ते, अट्ठमे भत्ते, दसमे भत्ते, दुवालसमे भत्ते, चउद्दसमे भत्ते, अद्धमासिए भत्ते, मासिए भत्ते, दोमासिए भत्ते, तिमासिए भत्ते, जाव छम्मासिए भत्ते से त्त इत्तरिए ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-302

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-302-303

शासन में आठ मास का और ऋषभदेव के तीर्थ में उत्कृष्ट तप 1 वर्ष का माना गया है ।[1]

प्रस्तुत कोष में इत्वर अनशन तप संक्षेप में छः प्रकार का बताया गया है ।

जो सो इत्तरिय तवो, सो समासेण छव्विहो ।
सेढितवो पयरतवो, घणो य तह होइ वग्गे य ॥
तत्तो य वग्गवग्गो, पञ्चम छट्ठओ पइन्नतवो ।
मणइच्छिय चित्तत्थो, नायव्वो होई इत्तरिओ ॥[2]

यथा- श्रेणितप, प्रतरतप, घनतप, वर्गतप, वर्ग-वर्गतप और प्रकीर्णतप । छः प्रकार का यह इत्वरिक अनशन तप मनोवाञ्छित फल देनेवाला है ।

यावत्कथिक अनशन तप

यावत्कथिक अनशन तप जीवन भर के लिए होता है । जब से अनशन लिया जाता है तब से लेकर मृत्यु पर्यन्त तीन अथवा चारों आहारों का त्याग यावत्कथिक तप के अन्तर्गत आता है ।[3]

मृत्युकाल में जो यावत्कथिक अनशन किया जाता है, वह कायिक चेष्टा की अपेक्षा से सविचार एवं अविचार दो प्रकार का कहा गया है ।[4] जिसमें शारीरिक चेष्टाओं के व्यापार चालू हो, वह सविचार अनशन तप है और जिसमें समस्त कायिक क्रियाएँ बन्द हो, वह अविचार अनशन तप है ।[5]

---

1 तत्पुन श्री महावीर तीर्थे नमस्कार सहितादिषण्मासान्त, श्री नाभेयतीर्थङ्कर तीर्थे सवत्सर पर्यन्त, मध्यम तीर्थङ्कर तीर्थे अष्टौमासान् ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ-302

2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ-303

3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ-302-303

4 जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया ।
सावियारमवियारा काय चेट्ठ पई भवे ॥

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ-303

5 सह विचारण चेष्टात्मकेन वर्तते यत्तत्सविचार तदविपरीतमविचार्रम् ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ-303

प्रकारान्तर में आजीवन अनशन तप के सपरिकर्म और अपरिकर्म दो प्रकार हैं- जिसमें कायिक चेष्टा की जाय वह सपरिकर्म और अपरिकर्म कायिक चेष्टा रहित होता है । वह वृक्ष की भाँति शरीर से निष्कम्प रहता है । व्याघात और निर्व्याघात की अपेक्षा से इसके भी दो भेद हैं- निहारी और अनिहारी । इन दोनों अनशनों में आहार का त्याग होता ही है ।[1]

आजीवन अनशन तप के काय-योग की अपेक्षा से तीन भेद है- पादपोपगमन, इङ्गितमरण और भक्तपरिज्ञा ।[2]

इनमें भी भक्तपरिज्ञा (भक्त प्रत्याख्यान) और इङ्गितमरण सविचार यावत्कथिक अनशन तप है और पादपोपगमन अविचार यावत्कथिक अनशन तप है ।[3]

वस्तुतः अनशन तप कैसा होना चाहिये । उसकी महत्ता प्रतिपादित करते हुए प्रस्तुत कोष में कहा है-

सो नाम अणसणतवो, जेण मणोऽमङ्गलं न चिंतेइ ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति ॥[4]

वही अनशन तप श्रेष्ठ है जिससे कि मन अमङ्गल न सोचे । इन्द्रियों की हानि न हो और नित्यप्रति की योग-धर्म की क्रियाओं में विघ्न न आएँ ।

2. ऊणोदरिका तप

'ऊणोदरिका' शब्द को प्राकृत में 'ऊणोयरिया' या 'ओमोयरिया' कहा गया है और संस्कृत में वह 'ऊणोदरिका' या

---

1 *अहवा सपडिकम्मा अपरिकम्मा य आहिया ।*
नीहारिमनीहारी आहारच्छओ य दोसु वि ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ-303 304

2 *तत्पुनश्चेष्टाभेदोपधिविशेषतस्त्रिधा-यथा पादपोपगमन इङ्गितमरण भक्तपरिज्ञा चेति ।*
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ-302

3 *तत्र सविचार भक्तप्रत्याख्यानमिङ्गिनीमरण च । अविचारतु पादपोपगमन तत्र हि सव्याघाताव्याघातभेदतो द्विभेदेऽपि पादपवन्निश्चेष्टतयैव स्थीयते ।*
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ-303

4 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-137*

'अवमोदरिका' शब्द स व्यवहृत हुआ है । अभिधान राजेन्द्र कोष में इसकी व्युत्पत्ति इसप्रकार की गई है–

अवममूनमुदरं यस्य सोऽवमोदरः अवमोदरस्य वा करणम् अवमोदरिका[1] एक परिभाषा इसतरह की गई है **ऊनम् उदरं ऊणोदरं तस्य करणं भावे ऊणोदरिका**[2]- अर्थात् अपनी खुराक (आहार) से पेट में कम डालना या जितनी भूख हो, उससे कम खाना; 'ऊणोदरिका' या 'अवमोदरिका' कहलाती है ।

'ऊणोदरिका' दो शब्दों से मिलकर बना है । ऊण+उदरिका। 'ऊण' अर्थात् कम और 'उदर' शब्द पेट के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । जिसका शाब्दिक अर्थ है- पेट में थोड़ा डालना ।

ऊणोदरिका तप की सुन्दर व्याख्या करते हुए प्रस्तुत कोष में कहा है- **अवि ओमोदरियं कुज्जा**[3] भूख की अपेक्षा कम खाएँ ।

पुरुष का आहार 32 कवल और स्त्री का आहार 28 कवल बताया गया है ।[4] इससे एक ग्रास भी कम खाने को ऊणोदरिका तप कहते हैं ।

अभिधान राजेन्द्र कोष में ऊणोदरिका दो प्रकार की बताई गई हैं– द्रव्य ऊणोदरिका और भाव ऊणोदरिका ।[5]

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-91

2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1209

3 -अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-616

4 बतीस किर कवला, आहारो कुच्छिपुरओ भणिओ ।
पुरिसस्स महिलाएँ, अट्ठावीस भवे कवला ।
-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-1 पृष्ठ-549-1210

5 ओमोदरिया दुविहा पणत्ता । त जहा-
दव्वोमोयरिया य भावोमोयरियाय ।
-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1209

ऊणोदरिका के 5 भेद भी बताए गए हैं- यथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्याय ।[1]

1. आहार-पानी, वस्त्र-पात्रादि आवश्यकता से अल्प लेना, द्रव्य ऊणोदरिका है ।

2. निश्चित किए गए ग्राम-नगरादि स्थान से ही गौचरी ग्रहण करना, क्षेत्र ऊणोदरिका है ।

3. गौचरी के लिए निश्चित किए गए समय पर ही आहार ग्रहण करना । अन्यथा नहीं लेना, काल ऊणोदरिका है ।

4. भिक्षा लेने जाते समय विविध प्रकार के अभिग्रह ग्रहण करना, भाव ऊणोदरिका है ।

5. उपर्युक्त चारों भेदों को जीवन में आत्मसात् करते रहना, पर्याय ऊणोदरिका है ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव- इन चारों नियमों-पर्यायों को अपनाते हुए जो भिक्षु भिक्षाचरी करता है, उसे 'पर्यवचर' भिक्षु कहा गया है ।[2]

प्रस्तुत कोष में द्रव्य ऊणोदरिका के दो भेदों का उल्लेख किया है - उपकरण द्रव्य ऊणोदरिका और भक्त-पानद्रव्य ऊणोदरिका ।[3]

---

1 ओमोयरिय पचहा, समासेण विहाहिय ।
दव्वओ खित्तकालेण, भावेण पज्जवेहिय ॥

-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1209

2 दव्वे खित्ते काले, भावम्मि आहियाउ जे भावा ।
एएहि ओमचरओ, पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥
द्रव्ये अशनपानादौ विशिष्टाऽभिग्रहवशात्सदवमोदर्यम् स्यादेव । इह पुन पर्यायग्रहणेन पर्यवप्राधान्य विवक्षया पर्यवावमोदर्थम ज्ञेयम ।

-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1213

3 दव्वोमोयरिया दुविहा पणत्ता त जहा- उवगरणदव्वोमोयरिया य भत्तपाणदव्वोमोयरिया य ।

-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1209

उपकरण द्रव्य ऊणोदरिका

इसका सीधा सा अर्थ है- वस्त्र-पात्रादि उपयोगी एवं आवश्यक वस्तुओं की जो मर्यादा है, उससे कम वस्तुएँ रखना उपकरण द्रव्य ऊणोदरिका है ।[1]

भक्त-पान द्रव्य ऊणोदरिका

प्रस्तुत कोष में आहार के कवल का प्रमाण बताया है, और 'कुक्कुटी' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है **'कुच्छिय कुडीय कुक्कुड़ी-सरीरगं अंडगं मुहंतीए' कुत्सिता कुटी कुक्कुटी शरीरमित्यर्थः । तस्याः शरीररूपायाः कुक्कुट्या अण्डक-मिवाण्डकं मुख**[2] जिसमें घिनौनी वस्तुएँ भरी हो, ऐसी कुटी वह पेट है; शरीर है उसका अण्डा अर्थात् मूल (अग्रभाग) है मुख । अतः **कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्र**[3] कुक्कुटीअण्डप्रमाण का तात्पर्य है- मुख में आसानी से जा सके उतने प्रमाण का कवल । सारांश में, **कवलस्स य परिमाणं कुक्कुडिअण्डप्पमाण मेत्तंतु**[4] कवल का प्रमाण मुर्गी के अण्डे के बराबर प्रमाण का होता है ।

वह कुक्कुटी दो प्रकार की है- दव्य कुक्कुटी और भाव कुक्कुटी । द्रव्य कुक्कुटी के भी दो भेद हैं- उदर कुक्कुटी और गल कुक्कुटी ।[5]

उदर कुक्कुटी- जितनी खुराक लेने से उदर-पूर्ति हो जाती है

---

1 द्रव्यत उपकरण भक्तपान ग्रहणताभवत्येवोनोदरता ।

-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1209

2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1210

3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-549-1210

4 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1210

5 कुक्कुटी च द्विधा द्रव्यकुक्कुटी भावकुक्कुटी च । द्रव्य कुक्कुटय पि द्विधा । उदरकुक्कुटी गल कुक्कुटी च ।

-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-549

उतना ही आहार लना, न उसस कम न ज्यादा । वह उदर कुक्कुटी कहलाती है ।[1]

गल कुक्कुटी- गल कुक्कुटी विभिन्न प्रकार की होती है । अपने आहार का बत्तीसवाँ भाग एक कवल प्रमाण होता है । अथवा जितना बड़ा कवल मुँह में रखते हुए मुँह, आँखें, भौहें आदि विकृत न हो, उतने प्रमाण का एक कवल या फिर सुखपूर्वक मुँह में रखा जा सके उतने प्रमाण का कवल अथवा तो मुर्गी के अण्डे के बराबर प्रमाण का कवल गल कुक्कुटी है ।[2]

भाव कुक्कुटी

जितनी खुराक वापरने से अपने शरीर में स्फूर्ति बनी रहे । धैर्य बना रहे, दर्शन-ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रयी की वृद्धि होती रहे, उतने प्रमाण के आहार का बत्तीसवाँ भाग एक कवल कहलाता है ।[3]

आहार-पानी दोनों की मर्यादा रखना भक्तपान-द्रव्य-ऊणोदरिका है ।

पुरुष का 32 कवल, स्त्री का 28 कवल और नपुसंक का 24 कवल आहार माना गया है । जिसका जितना आहार बताया गया

---

1 तत्र साधोरुदर यावन्मानेणाहारेण न न्यून नाऽप्याध्मात भवति स आहार उदरकुक्कुटी । उदरपूरक आहार कुक्कुटी च उदरकुक्कुटी ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-549

2 तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागोऽण्डक तत्प्रमाण कवल स्यात्तया गल कुक्कुटीव गलकुक्कुटी गल एव कुक्कुटीत्यर्थ । तस्यान्तरालमण्डकम् । किमुक्त भवति । अविकृतस्य पुसो गलान्तरालेय कवलो मुखे प्रविशति तत्प्रमाणम् । अथवा शरीरमेवकुक्कुटी तन्मुख मण्डक तत्राक्षिकपोलभ्रुवा विकृतिमनापाद्य य कवलो मुखे प्रविशति तत्प्रमाण । अथवा कुक्कुटीपक्षिणी तस्या अण्डक प्रमाण कवलस्य ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-549

3 भावकुक्कुटी येन आहारेण भुक्तेन न न्यून नाऽप्यत्याध्म तमुदरम्भवति । धृतिञ्च समुद्वहति । ज्ञानदर्शनचारित्राणाञ्च वृद्धि रूप जायते । तावत्प्रमाण आहारो भावकुक्कुटी । अत्रभावस्य प्राधान्यविवक्षणादेष प्राग द्रव्यकुक्कुटयप्युक्त । इह भाव कुक्कुटी उक्त तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागो अण्डकप्रमाणो तत्कवलस्य ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-549

है, उसमें से जितने कवल थोड़े खाए जाएँ, उसे भक्त-पान ऊणोदरिका कहते हैं ।[1]

एक और अर्थपरक व्याख्या करते हुए कहा है- बत्तीस कवल प्रमाण आहार में एक, दो, तीन, चार.................. कवल कम करते-करते यावत् सोलह कवल प्रमाण आहार करना । उसमें से भी न्यून करते-करते आठ कवल प्रमाण आहार करना, वह द्रव्य (भक्त-पान) ऊणोदरिका कहलाती है और वह यात्रामात्र {उदर-पूर्ति करने वाला} न्यून आहार कहा जाता है ।[2]

प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में यह भी उल्लेख किया गया है कि साधक अपने 32 या 28 कवल प्रमाण आहार में से यथाशक्य कवल न्यून करते हुए 'अल्पाहार' आदि पाँच तरह से ऊणोदरिका तप की साधना करता है । यथा-

1. **अल्पाहार ऊणोदरिका :** कोई साधक अपने आहार का चौथाई भाग- (एक से आठ कवल प्रमाण) खाकर 'अल्पाहार ऊणोदरिका तप' करता है ।

2. **अपार्द्ध ऊणोदरिका :** कोई नौ कवल से लेकर बारह कवल प्रमाण भोजन करता है । वह 'अपार्द्ध ऊणोदरिका' कहलाती है ।

---

1 बत्तीस किर कवला, आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ ।
पुरिसस्स महिलियाए, अट्ठावीस भवे कवला ।
पुरुषस्य कुक्षिपूरक   कवलानाञ्चप्रमाण कुकुट्यडम ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-549

2 (क) भत्तपाणदव्वोमोयरिया अट्टकुक्कुडि अडकप्पमाणमेत्ते कवले आहार आहारमाणे अप्पाहारे दुवालसजहा   सत्तमसए पढमोहेसए जावनो   सेत्त भत्तपाण दव्वो मोयरिया ।
(ख) एत्तो किणइहीण, अद्ध अद्धद्धगच आहार ।
साहुस्स वेति धीरा, जायामाय च ओम च ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-549-1209 एव 1210

3. **द्विभाग ऊणोदरिका** : कोई तेरह कवल मे सोलह कवल जितना आहार कर 'द्विभाग ऊणोदरिका तप' करता है ।

4. **पादोन ऊणोदरिका** : कोई व्यक्ति सत्रह कवल स चोवीस कवल प्रमाण आहार कर 'पादोन ऊणोदरिका तप' की साधना करता है ।

5. **किञ्चित् ऊणोदरिका** : कोई साधक पच्चीस कवल से लेकर इकतीस कवल प्रमाण भोजन करता है, वह 'किञ्चित् ऊणोदरिका तप' कहा जाता है । इसीप्रकार पानी की भी ऊणोदरिका जाननी चाहिए । पुरुष के समान स्त्रियों के लिए भी इसीप्रकार 'ऊणोदरिका तप' की साधना कही गई है ।[1]

32 या 28 कवल प्रमाण से अधिक भोजन करना आहार का प्रमाण-दोष कहा जाता है । प्रमाणातिक्रमण के सन्दर्भ में प्रकामादि आहार की चर्चा करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है–

पगामं च निगामं च, पणीयं भत्तपाणमाहारे ।
अइबहुयं अइबहुसो, पमाणदोसो मुणेयव्वो ॥
बत्तीसाइ परेण पगाम, निच्चंतमिव उ निकामं ।
जं पुण गलितसिणेहं, पणीयमिति तं बुहा बिंति॥
अइबहुयं अइबहुसो, अइप्पमाणेण भोयणं भुत्तं।
हाएज्ज व वामेज्ज व, मारेज्ज व तं अजीरंतं ॥

---

1 (क) अप्पाहार अवज्जा दुभागपत्ता तहेव कि छुणा ।
अट्ठदुवालस सोलस, चउव्वीस तहेक्कतीसा य ॥
अल्पाहारोनोदरिका नाम एककवलादारभ्य यावदष्टौकवला इति अत्र चैककवलमाना जघन्या अष्टकवलमाना पुनरूत्कृष्टा द्वयादि कवलमानभेदा मध्यमा एव नवभ्य कवलभ्य आरभ्ययावद् द्वादशकवलास्तावदपार्द्धोनोदरिका अत्रापि नवकवला जघन्या द्वादशकवलोत्कृष्टा शेषातुमध्यमा । एव त्रयोदशभ्य. आरभ्य यावत् षोडश कवलास्तावन्द्विभागोनोदरिका जघन्यादिभेदत्रयभावना पूर्ववत् एव सप्तदशभ्यो यावच्चतुर्विंशति कवलास्तावत्किञ्चिदूनोदरिका जघन्यादिभेदत्रय पूर्ववत् भावनीयम्। पादोनोदरिका एव पञ्चविंशतेराभ्य यावदेक त्रिशत्कवलास्ताव एवेमनेनानुसारेण पानेऽपि भणनीया तथा स्त्रीणामप्येव पुरुषानुसारेण द्रष्टव्या ।
(ख) भत्तपाण दव्वो मोयरिया अट्ठकुक्कुडिअडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारे आहारे माणे अप्पाहारे दुवालस पकामरस भोइत्तिवत्तव्व सिया ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1210 (भगवती सूत्र सटीक 25/7)

बहुयातीयमइबहुं, अइबहुसो तिन्निसिन्नि परेणं ।
तं चिय अइप्पाणं भुंजेज्जइ वा अतिप्पंतो ॥[1]

1 घृतादि नहीं टपकते हुए आहार के बत्तीस कवल प्रमाण से अधिक वापरना 'प्रकाम आहार' कहलाता है ।

2 जिसमें से घृतादि नहीं टपक रहे हो, वैसे आहार के बत्तीस कवल की मात्रा से अधिक आहार प्रतिदिन वापरना निकाम भोजन है ।

3. मुँह में रखते समय कवल में से घृतादि टपक रहे हो, वैसा आहार करना प्रणीत भोजन है ।

4. उतावले होकर आहार करना, अतिबहुक भोजन कहलाता है ।

5. अत्यन्तलोलुपता से अथवा अतृप्त रहते हुए दिन में तीन समय से अधिक दफा खाना, अतिबहुशः भोजन कहलाता है ।

उपर्युक्त प्रकाम, निकाम प्रणीतादि भक्त-पान करना आहार का प्रमाण-दोष समझना चाहिए । अतः साधक को प्रमाणाति-क्रान्त-दोष से बचना चाहिए ।[2] अति आहार अनेक दोषों को उत्पन्न कर देता है ।[3]

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-549 -पिण्डनिर्युक्ति गाथा 644-645 646 एव 647

2 य काम निकाम प्रणीत वा भक्तपानमाहारयति तथा अतिबहुक मतिवहुशश्च तस्य प्रमाणदोषाज्ञातव्या । द्वात्रिंशदादिकवलेभ्य परेण परतो भुञ्जानस्ययदभोजन तत्प्रकाम भोजन तदेव तत्प्रमाणातीतमाहार नित्यन्त प्रतिदिवसमश्नतो निकामभोजनम । यत्पुनगलितस्नेह भोजन तत्प्रणीतबुधातीर्थकृदादय ब्रुवते। अतिबहुक वक्ष्यमाणस्वरूपमतिवहुशोऽनेकशोऽमृप्यता सता भोजन भुक्त सत कर्तव्य इति । वहुकातीतमतिशयेन वहु अतिशयेन निजप्रमाणाभ्यधिकमित्यर्थ तथा दिवसमध्ये यस्त्रीन वारान भुङ्क्ते त्रिभ्यो वा वारेभ्य परतस्तदभोजनमतिबहुश । तदेव च वारत्रया तीत मति प्रमाणमुच्यते अइप्पमाणे त्यवयवा व्याख्यात । अस्यैव प्रकारान्तरेण व्याख्यामाह । भुक्ते वा अतृप्यन एष अइप्पमाण इत्यस्य शव्दस्यार्थ ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-549

3 अतिप्रमाणे गृह्यमाणे आहार बहवो दोषा ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1210 (व्यवहार सूत्र वृत्ति द्वितीय 8 उद्देश)

आहार शरीर का मुख्य साधन है और यह सच है कि बिना आहार के शरीर टिक भी नहीं सकता, परन्तु यदि मात्रा में अधिक और अहितकर आहार लिया जाय तो वह अनेक रोगों को पैदा कर देता है। प्रस्तुत कोष में रोगोत्पत्ति के नौ कारणों में से **अच्चासणाए** और **अहियासणाए**[1] 'अति आहार' और 'अहितकर आहार' रोग के ये दो कारण बताए हैं।

इसलिए कहा है श्रमण को भूख से कम खाना चाहिए।[2] यदि वह अधिक आहार करता है तो पाचन नहीं होने से दस्तें होती हैं। वमन (कै) होता है अथवा बदहजमी यावत् मृत्यु भी हो जाती है। इसलिए मात्रा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।[3]

मिताहार का स्वरूप बताते हुए प्रस्तुत कोष में कहा है– अपने पेट के अवकाश को छह भागों में विभक्त कर लें। यथा– शीतऋतु, ग्रीष्म ऋतु और साधारण काल की अपेक्षा से निम्नोक्त प्रकार से भोजन करें।

1. अधिक सर्दी में एक भाग पानी के लिए, चार भाग भोजन के लिए और एक भाग हवा के लिए रखना चाहिए।

2. मध्यम सर्दी में दो भाग पानी के लिए, तीन भाग भोजन के लिए और एक भाग वायु के लिए रखे।

3. मध्यम गर्मी में दो भाग पानी के लिए, तीन भाग भोजन के लिए और एक भाग हवा के लिए।

---

1 अभिधान राजन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-579 (स्थानाग 9/५)

2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-616 (आचाराग सूत्र 1/5/2/164)

3 अइबहुय अइबहुसो अइप्पमाणेण भोयण भुत्त ।
हाएज्ज व वामेज्जव मारेज्जव त अजीरत ॥
अतिबहुशोऽनेकशोऽमृष्यता सता भोजन भुक्त सत हादयेत अतिसार कुर्यात तथा वामयेत् यद्वा तदजीर्यन मारयेत । तस्मान्न प्रमाणातिक्रम कर्तव्य इति ।
–अभिधान राजन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-549 (पिण्डनिर्युक्ति सटीक गाथा 646)

4. अत्यन्त गर्मी में तीन भाग पानी के लिए, दो भाग भोजन के लिए और एक भाग हवा के लिए रखना चाहिए।

हमेशा पेट का एक अवकाश वायु के लिए खाली ही रखे जिससे कि व्यक्ति कभी बीमार न हो।[1]

प्रस्तुत कोष में स्थान-स्थान पर अल्प भक्त-पान का निर्देश दिया गया है और स्वस्थता एवं स्वाध्याय के लिए यह आवश्यक भी है। श्रमण जीवन का आदर्श ही है – **अप्पपिंडासि पाणासि**'[2] सुव्रती साधक कम खाए, कम पीए। हित-मित और अल्पाहार शरीर को कितना लाभदायक है, इस तथ्य को उजागर करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष में महत्त्वपूर्ण बात कही है-

हियाहारा, मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जा तिगिच्छंति अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥[3]

जो मनुष्य हिताहारी, मिताहारी और अल्पाहारी हैं, उन्हें किसी वैद्य से चिकित्सा करवाने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे तो स्वयं ही अपने वैद्य हैं, चिकित्सक हैं।

---

1 *अट्ठमसणस्स सव्व जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे।*
वाउपवियारणट्ठ छब्भायउ ऊणय कुज्जा
इहकिल सर्वसुन्दर षड्भिर्भागै आहारस्य प्रमाण भवति।
सीओ उसिणा साहारणोय, कालोतिहामुणेयव्वो।
साहारणमि काले, तत्थाहारे इमा मत्ता ॥
त्रिधा कालो ज्ञातव्यस्तद्यथा शीतउष्ण मात्रा प्रमाणम्।
सीए दवस्स एगा भत्ता चत्तारि अहव दो पाणी।
उसिणे दवस्स दोन्निउ, तिन्निवसेसा उ भत्तस्स ॥
शीते अतिशयेन शीतकाले वायुप्रविचारणार्थमुक्तोऽतोभोक्तव्य।
एगो दव्वस्स भागो अवट्ठितो भोयण दो भागा।
वड्ढति व हाइति व, दो-दो भागा उ एक्केक्के ॥
एको द्रव्यस्य भागो अति शीतकाले पानीयस्य।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-549-550 (पिण्डनिर्युक्ति सटीक गाथा 650, 651 व 652, 653)

2 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1407 (सूत्रकृताग 1/8/25)*

3 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-549 एव भाग-5 पृष्ठ-1619 (ओघनिर्युक्ति 578)*

संक्षेप में यह कहा जा मकता है कि हित, मित और अल्पभोजी सदा स्वस्थ और सुखी रहता है ।

क्षेत्र ऊणोदरिका

गाँव, नगर, राजधानी, खेटक, पत्तन, आश्रम, घोष, द्रोणमुख, वाड़े, गली या घरों आदि स्थानों में नियतमर्यादा से भिक्षा मिले तो ग्रहण करना, यह क्षेत्र ऊणोदरिका है ।[1]

प्रकारान्तर से क्षेत्र ऊणोदरिका बतलाते हुए कहा है–

पेडा य अद्धपेडा, गोमुत्तिय पतंग बीहिया चेव ।
संवुक्का वुट्टाय, गंतुं पच्चागमा छट्ठा ॥[2]

पेटा, अर्धपेटा, गोमूत्रिका, पतंगवीथिका, शंखावर्त्त और प्रत्यागमा ये छह प्रकार की ऊणोदारिका कही गई हैं ।

1. पेटी के समान चतुष्कोण गृहसमूह में भिक्षा लेना पेटा भिक्षा है ।

2. अर्धचतुष्कोण में भिक्षा के लिए भ्रमण करना अर्धपेटा भिक्षा है ।

3. बाँये से दाँये और दाँयें से बाँयें वक्रगति से गौचरी के लिए भ्रमण करना गौमूत्रिका भिक्षा है ।

4. पतंग की भाँति कुछ घरों को छोड़कर दूसरे घरों में भिक्षाचरी करना पंतगवीथिका भिक्षा है ।

1 *गामे नगरे तहाय, रायहाणि निगमे य आगरपल्ली ।*
खेडे कव्वडदोणमुह-पट्टणमडबसवाहे ॥
आसमपए विहारे, सन्निवेसे समायघोसेय ।
थलसेणाखधारे, सत्थे सवट्टकोट्टेय ॥
वाडेसु य रत्थासु य, घरेसु वा एवमित्तिय खित्त ।
कप्पइ उ एवमाइ, एव खित्तेणओ भवे ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ- 1212 (उत्तराध्ययन 30/16)

2 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1212 (उत्तराध्ययन 30/19)*

5. शंख की तरह आवर्तनवाली (घुमावदार) भिक्षाचरी करना शंखावर्त भिक्षा है ।

6 लम्बे जाकर पीछे आते हुए भिक्षा लेना प्रत्यागमा भिक्षा है । ऊणादरिका के लिए श्रमण इसप्रकार से आहारार्थ भ्रमण करता है ।[1]

काल ऊणोदरिका

साधक दिन की चार पोरिसी में अभिग्रह लेता है कि अमुक प्रहर {3 घण्टे का एक प्रहर} में गौचरी मिल गई तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं लूँगा । निश्चित समय में भिक्षाचरी करना काल ऊणोदरिका है ।

अथवा तो तीसरे प्रहर में कुछ समय शेष रहेगा, तब आहार की गवेषणा करूँगा या फिर तृतीय प्रहर के चतुर्थ भाग में भिक्षाचरी करूँगा । इसप्रकार अभिग्रहधारी श्रमण अभिग्रह धारण करके आहार की न्यूनता करता है । यह काल ऊणोदरिका कहलाती है ।[2]

भाव ऊणोदरिका

भाव ऊणोदरिका में आन्तरिक मनोवृत्तियाँ आती हैं । वे हैं– क्रोध–मान–माया–लोभ, कलह, भाषण, निद्रा आदि । इन दुर्वृत्तियों को क्षीण करते रहना, कम करते रहना 'भाव ऊणोदरिका तप' के

1 *षडविधा क्षेत्रावमोदरिका वर्तते पेटा पेटाकारा चतुष्कोणा पेटाकारेण गोचर्या कृत्वा अवमोदरीकरणमेवमर्द्ध पेटाकोरण गोचरीकरण गोमूत्रिकाकारेण इदृक प्रकारेणैव साधुराहारार्थ भ्रमति तस्मान्नात्र दोष ।'*

–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1212 (उत्तराध्ययन सटीक 30/19)

2 *दिवसस्स पोरिसीण चउण्णपि जत्तिओ भवे कालो।*
एव चरमाणो खलु, कालोमाण मुणेयव्वो ॥
दिवसस्य चतसृणा कालावम मन्तव्य ।
अहव तइय पोरिसीए उणाए घासमेसते ।
चउभागूणाए वा एव कालेणओ भवे ॥
अथवा तृतीयाया कालेन अवमोदर्य भवेत ।

–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1212 (उत्तराध्ययन सटीक 30/20 21)

अन्तर्गत समाहित किया गया है । जैसे आहार की कटौत्री करना, द्रव्य ऊणोदरिका है; वैसे ही कषाय आदि की कटौत्री करना भाव ऊणोदरिका है ।

अभिधान राजेन्द्र कोष में भाव ऊणोदरिका को बहुत सुन्दर शब्दों में गुम्फित किया गया है । प्रश्न किया गया है **से किं तं भावोमोयरिया ?**[1] भाव ऊणोदरिका क्या है ? समाधान देते हुए कहा गया है **भावोमोयरिया अणेगविहा पण्णत्ता ? तं जहा- अप्पकोहे अप्पमाणे जाव अप्पलोभे अप्पसद्दे अप्पझंझे अप्पतुमं. ......से त्तं भावोमोयरिया**[2]

भाव ऊणोदरिका अनेक प्रकार की कही गई हैं- यथा क्रोध कम करना, अभिमान अल्प करना, कपट का सेवन कम करना, लोभ थोड़ा करना, अल्प शब्दों का प्रयोग करना, कलह कम करना आदि ये भाव ऊणोदरिका तप हैं ।

मन की समस्त ग्रन्थियाँ समाप्त करने और आन्तरिक प्रफुल्लता बनाए रखने के लिए जीवन में भाव ऊणोदरिका तप का अत्यधिक महत्त्व है । इसकी महत्ता को उजागर करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष में सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की गई है-

थोवाहारो थोवभणिओ अ, जो होई थोवनिद्दो अ।
थोवोवहि उवकरणो, तस्स हु देवा वि पणमंति ॥[3]

जो साधक थोड़ा खाता है, थोड़ा बोलता है, थोड़ी नींद लेता है और थोड़ी ही धर्मोपकरण की सामग्री रखता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं, और भी कहा गया है-

अप्पाहार दंतस्स देवा दंसेति ताइणो ।[4]

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1213 (भगवती सूत्र 25/7)
2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1213 (भगवती सूत्र 25/7)
3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ-2419 (आवश्यकनिर्युक्ति 4/1282)
4 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-1184 (दशाश्रुत स्कध 5/4)

जो साधक अल्पाहारी है, इन्द्रिय विजेता है और सभी प्राणियों की रक्षा की भावना रखता है, उसके दर्शन के लिए देव भी आतुर रहते हैं ।

प्रकारान्तर से भाव ऊणोदरिका का स्वरूप बताते हुए कहा है–

इत्थी वा पुरुसो वा अलंकिओ वा णलंकिओ वावि ।
अन्नयर वयत्थो वा, अन्नयरेणं च वत्थेणं ॥
अन्नेणं विसेसेणं, वण्णेणं भावमणुमुयंते च ।
एवं चरमाणो खलु भावोवमाणं मुणेयव्वं ॥[1]

भिक्षाचरी के लिए जाने वाला कोई श्रमण गौचरी लेने जाने से पूर्व ही अपने मन में यह अभिग्रह धारण कर लेता है कि भिक्षादाता आज मुझे इन–इन स्वरूप एवं भावों में आहार देंगे तभी मैं आहार लूँगा अन्यथा नहीं लूँगा । उपवास रखूँगा । जैसे- अमुक स्त्री या पुरुष अलंकार सहित होंगे या अलंकार रहित होंगे तो लूँगा। बालक, तरूण या वृद्ध–इनमें से किसी एक से लूँगा । पट्ट–दुकूलादि अमुक रंग के वस्त्र पहने हुए होंगे या अमुक वर्णादि विशेष में होंगे अथवा क्रुद्ध या हँसमुख मुद्रा में भिक्षा देंगे तो आहार लूँगा ।

उपर्युक्त अभिग्रहों के साथ वह साधु भिक्षाचरी करता हुआ भाव ऊणोदरिका तप की साधना करता है ।

इसप्रकार ऊणोदरिका तप के समस्त भेदोपभेद की जीवन में सम्यक् आराधना आवश्यक है ।

1 भिक्षाया भ्रममाणस्य साधो खलु निश्चयेन भावोऽवमत्व भावावमोदर्य ज्ञेयम् यदा कश्चित् साधु रिति चिन्तयति अद्य कश्चिद्दाता भावमेतादृश स्वरूप अनुन्मुञ्चन् अत्यजन् एतादृशस्वरूप भजन मह्यम आहार दास्यति तदाऽह ग्रहीष्यामिनान्यथेति भाव· को दाता कीदृश च भावमत्यजन् तदाह-स्त्री वा पुरुषो वा आभरणादि सहितोऽथवऽनलकृतोऽलङ्कारैरहित अन्यतरवयस्थो वालतरुण स्थविरादिकाना एतादृश· सन् मह्यम् आहार दास्यति तदा लास्यामि इत्यभिग्रहधारणेन भावावमोदर्य ज्ञेयम् ।

–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-1213 (उत्तराध्ययन सटीक 30/22 23)

3. वृत्ति संक्षेप {भिक्षाचरी} तप

बाह्य तप का तीसरा भेद है–'वृत्ति संक्षेप'। यह दो शब्दों से निष्पन्न है। वृत्ति+संक्षेप। वृत्ति अर्थात् खाने-पीने के द्रव्य और संक्षेप का अर्थ है समेटना, परिमाण करना।

अभिधान राजेन्द्र कोष में 'वृत्ति संक्षेप' की परिभाषा करते हुए कहा है– **वृत्तेर्भिक्षाचर्यारूपायाः संक्षेपोऽभिग्रह विशेषात् संकोचनं वृत्ति संक्षेपः**[1] अभिग्रह विशेष से भिक्षा का संकोच करके निर्दोष पदार्थ की गवेषणा के लिए भ्रमण करना वृत्ति संक्षेप तप है। ऐसी ही एक और परिभाषा दी गई है। यथा– **वृत्तेर्भिक्षाचर्यायाः संक्षेपणमल्पताकरणं वृत्तिसंक्षेपणं द्रव्याद्यभिग्रहणम्।**[2]

उपयोग में आने वाले खाने-पीने के पदार्थों को अभिग्रह के द्वारा सीमित करना, अल्प करना वृत्ति संक्षेप तप है।

वृत्ति संक्षेप का दूसरा नाम भिक्षाचरी है। प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में भिक्षाचरी तप के सन्दर्भ में कहा है–

अट्ठविहं गोयरग्गं तु तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहाय जे अन्ने भिक्खायरिय माहिया॥[3]

आठ प्रकार की गौचरी और सात प्रकार की एषणाएँ तथा अन्य जो अभिग्रह आदि हैं, वे सब भिक्षाचरी तप हैं।

भिक्षाचरी के आठ भेदों में पेटा, अर्धपेटा, गौमूत्रिका, पतंगवीथिका, शंखावर्त्त और प्रत्यागमा (वृत्ताकार) इन छह भेदों का उल्लेख ऊणोदरिका तप के सन्दर्भ में पूर्व में किया जा चुका है। इन छह भेदों के अतिरिक्त सातवाँ भेद ऋजुगति और आठवाँ वक्रगति हैं।

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1192 (पाक्षिक सूत्र सटीक)
2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1192 (पचाशक सटीक विवरण 19)
3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5 पृष्ठ-1560 (उत्तराध्ययन 30/25)

4. रस-परित्याग तप

बाह्य तप के छह भेदों में चौथा भेद है रस-परित्याग। रस-परित्याग का अर्थ है- पौष्टिक भोजन, दूध-दही, घी, मिठाई आदि कामोत्तेजक रसमय पदार्थों का त्याग करना रस-परित्याग तप कहलाता है।[1]

प्रस्तुत कोष में रस-परित्याग तप के अनेक प्रकार बताए गए हैं। यथा- **रसत्यागोऽनेकधा**

णिव्वित्तिए पणीयरसपरिच्चाइ आयंबिले य
आयामसित्थं भोई अरसाहारे विरसाहारे
अंताहारे पंताहारे लूहाहारे।[2]

विगइ रहित आहार करना, प्रणीत {घी आदि से अत्यन्त गरिष्ठ} आहार का त्याग करना, छह विगई रहित आयंबिल का भोजन करना, धान्य आदि के धोवण में से कुछ कण ग्रहण कर क्षुधा-तृप्ति करना, रस-रहित भोजन करना, बेस्वाद भोजन करना, सबसे अन्त में बचा हुआ आहार या चना-उड़द आदि के छिलके का आहार करना, सबके खा चुकने के बाद बचा हुआ भोजन करना और बिना चिकनाहट वाला रुक्ष आहार करना।

इसप्रकार भोजन में अतिस्निग्ध सरस वस्तुओं का त्याग करके साधक रस-परित्याग तप की साधना कर सकता है। रस प्रायः कामोद्दीपक होते हैं। इसलिए उन रसों को विगई कहते हैं। प्रस्तुत कोष में कहा हैं- **शरीरमनसोः प्रायो विकार हेतुत्वात् घृतादिरसविशेषे**[3] जो शरीर और मन में विकारों को पैदा करती है, वह विगई कहलाती है।

1 (क) दुग्धदध्यादीना त्यागे।
(ख) खीर दहि सप्पिमाई पणीय पाणभोयण।
परिवज्जण रसाण तु भणिय रसविवज्जण॥
एतद्रसविवर्जनरसत्यागाख्य तप उच्चते।
-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-492

2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-492

3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1132

जैन परम्परा में प्रचलित भक्ष्य विगई छह हें– दूध, दही, घी, तेल, गुड़/शक्कर या उसमें बनी हुई वस्तुएँ और कढ़ाई विगई ।[1]

इसतरह रस–परित्याग तप का मूल प्रयोजन स्वाद–विजय है ।

5. कायक्लेश तप

यह तप कायिक क्रियाओं से सम्बन्धित है जो सीधा शरीर पर प्रभाव डालता है । शरीर को विवेकपूर्वक कष्ट देना, खेद पहुँचाना, पीड़ा पहुँचाना कायक्लेश तप है ।[2]

शीततापादीनां सहने स च वीरासनादिभेदाच्चित्रः[3] कहकर भी व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं । शीत–ताप, भूख–प्यास आदि उग्र कष्टों को समतापूर्वक सहन करना तथा वीरासन, पद्मासन आदि स्थिर आसनों से एक स्थान पर स्थिर रहना भी कायक्लेश तप के अन्तर्गत माना गया है ।

शरीर को कसने, साधने स्वस्थ एवं सशक्त बनाए रखने के लिए यह तप बहुत उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है । प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में इसकी साधना के सात प्रकार बताए गए हैं । जो निम्नाङ्कित हैं–

1. कायोत्सर्ग करना 'स्थानायतिक' कायक्लेश तप है ।

2. उत्कुटुकासन से ध्यान करना 'उकुडु आसन' कायक्लेश तप है ।

3. प्रतिमा धारण करना 'प्रतिमास्थायी' कायक्लेश तप है ।

---

1 श्रावकैर्विकृतियो भक्ष्या षट । ता दुग्ध, दधि घी, तैल, गुड सर्व पक्वान्नभेदात् ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1133 (धर्मसग्रह सटीक 2 अधिकार)

2 कायस्य शरीरस्यक्लेश खेद पीडा कायक्लेश शरीरक्लेशने ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-448 (स्थानाग सटीक 7 ठाणा3)

3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-448 (उत्तराध्ययन सूत्र सटीक 30 अध्ययन एव दशवेकालिक सूत्र सटीक 1 अध्ययन)

आए हुए क्रोधादि चार कषायों का निरोध करना और उदय में आए कषायों को विफल बना देना, कषाय-प्रतिसंलीनता है ।[1]

योग प्रतिसंलीनता

योग तीन हैं- मनयोग, वचनयोग और काययोग ।

इन तीनों योगों को अशुभ से शुभ में ले जाना योग प्रतिसंलीनता है ।

मनयोग की प्रतिसंलीनता तीन प्रकार की है-

1. अशुभ मन का निरोध ।
2. शुभ मन की प्रवृत्ति ।
3. मन को एकाग्र करना ।[2]

वचनयोग प्रतिसंलीनता

1. अशुभ मन का निरोध ।
2. शुभ वचन की प्रवृत्ति ।
3. वचनयोग का एकत्रीभाव-मौन रखना ।[3]

काय-योग प्रतिसंलीनता

काय प्रतिसंलीनता का अर्थ है- हाथ-पैरों को संयत रखते हुए कछुए की भाँति सब ओर से अपनी समस्त इन्द्रियों तथा प्रत्येक

1 कसायपडिसलीणया चउव्विहा पणत्ता । त जहा- कोहोदयणिरोहो उदयप्पत्तस्स वा कोहस्स विफलीकरण एव जाव लोभोदयणिरोहो वा उदयप्पत्तरस लोभरस विफलीकरण । से त कसायपडिसलीणया ।
उदयस्सेव निरोहो, उदयपत्ताण वाऽफलीकरण ।
ज एत्थ कसायाण कसाय पडिसलीणया एसा ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5 पृष्ठ-357 (औपपातिक सूत्र 19, भगवती सूत्र 25/7)

2 जोगपडिसलीणया तिविहा पणत्ता । त जहा- अकुसलमणनिरोहो कुसलमणउदीरण वा मणस्स वा एगत्तीभाव करण ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5 पृष्ठ-357 (भगवती सूत्र 25/7)

3 वई पडिसलीणया तिविहापणत्ता । त जहा- अकुसलवईणिरोहो कुसइवई उदीरण वा वइए वा एगत्तीभाव करण ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5 पृष्ठ-357 (ओपपातिक सूत्र 19। तथा भगवती सूत्र 25/7)

अंगों को समेट करके प्रशान्त रहना काय-संयम है ।[1]

विविक्त शय्यासन प्रतिसंलीनता

प्रतिसंलीनता का चौथा सोपान है : विविक्त शयनासन सेवना। इस तप का सम्बन्ध निर्दोष-निवास स्थान से हैं । स्त्री, पशु, पंडक कुशील आदि से रहित शुद्ध वातावरण युक्त एकान्त निर्दोष स्थान में रहना विविक्त शयनासन सेवना तप है ।[2]

आभ्यन्तर तप का स्वरूप

अभ्यन्तरे भवमाभ्यन्तरम्[3] - आभ्यन्तर अर्थात् अन्तरंग से सम्बन्धित। जो तप बाह्य दृष्टि से तप के रूप में दिखाई न दे तथा जो आत्मा और मन को तपाये; उसे आभ्यन्तर तप कहते हैं ।[4] मोक्ष प्राप्ति में प्रायश्चित्त आदि अंतरंग कारण हैं, अतः इसे 'आभ्यन्तर तप' की संज्ञा से अभिहित किया गया है ।

प्रायश्चित्त, विनय आदि आभ्यन्तर तप के अभ्यास से मन की शुद्धि होती है, चित्त, प्रसन्न हो जाता है और क्रमशः ध्यान साधना में स्थिरता आती है । आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं–

1 काय पडिसलीणया जेण सुसमाहिय पसत साहरिय पाणिपादे कूम्मो इव गुत्तिदिए ..... चिट्टइ । से त काय पडिसलीणया । से त्त जोग पडिसलीणया ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5 पृष्ठ-357 एव भाग-6 पृष्ठ-1406 (औपपातिक सूत्र 19 तथा भगवती सूत्र सटीक 25/7)

2 स्त्रीपशुपडक विवर्जिते' 'स्त्र्यादिरहितोपाश्रये' 'पशुपडककुशील वर्जितानवद्याश्रयाश्रयणे' आरामुज्जाणादिसु थीपसुपडगविवज्जिएसु ज ठाण ।' 'विविक्ताना निर्दोषाणा वासोनिवासो शयनासनानामासेवनायाम्' 'स्त्रीपशुपडकादिरहितस्थानसेवके ।'
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1247-49-50 (भगवती सूत्र सटीक 25/7)

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-687 (स्थानाग सूत्र सटीक 2/2)

4 अभ्यन्तरमन्तरस्यैव शरीरस्य तापनात्सम्यग्दृष्टिभिरेव तपस्तया प्रतीयमानत्वाच्च तच्च तत्तपश्चेति अभ्यन्तर तप ।
लौकिकेरनभिलक्ष्यत्वात् तन्त्रातरीयैश्च परमार्थतोऽनासेव्यमानत्वात् मोक्ष प्राप्त्यन्तरङ्गत्वाच्चाभ्यन्तरमिति ।'
अभ्यन्तरस्यैव शरीरस्य कार्मण लक्षणस्य तापकत्वादभ्यन्तर तप ।'
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-687 (प्रश्नव्याकरण सूत्र सटीक5 सवर द्वार)

प्रार्यश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य (मेवा), स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग ।[1]

आभ्यन्तर तप के छह प्रकार

1. प्रायश्चित्त तप

जैन परम्परा में बाह्य तप से आभ्यन्तर तप की ओर बढ़ने के छह सोपान बताए गए हैं । बाह्य तप की भाँति आभ्यन्तर तप के भी छः सोपान हैं । जिनमें प्रथम है- प्रायश्चित्त ।

'प्रायश्चित्त' दो शब्दों के योग से निष्पन्न है । प्रायः+चित्त । अभिधान राजेन्द्र कोष में इसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा है- **प्रायः पापं विनिर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम्**[2] प्रायः का अर्थ है पाप और चित्त का अर्थ है उस पाप का विशोधन करना अर्थात् पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम है प्रायश्चित्त ।

प्राकृत भाषा के 'पायच्छित्त' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए प्रस्तुत कोष में कहा गया है- **पावं छिंदइ जम्हा पायच्छित्तं ति भण्णइ तेण**[3] जिसके द्वारा पाप का छेदन होता है, उसे 'प्रायश्चित्त' कहते हैं । प्राकृत भाषा के 'पायच्छित्त' शब्द का संस्कृत में 'पापच्छित्' शब्द भी बनता है । प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है- **पापं छिनत्तीति पापच्छित्**[4] अर्थात् जो पाप का छेदन करता है, वह पापच्छित् कहलाता है ।

एक परिभाषा और दी गई है **प्रायशो वा चित्तं जीवं शोधयति कर्म-मलीनं विमलीकरोति तेन कारणेन् प्रायश्चित्त मित्युच्यते**[5]

---

1 छव्विहे अब्भन्तरिए तवे पन्नते । त जहा-पायच्छित्त विणओ वेयावच्च सज्झाओ झाण वि उस्सग्गो ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ 687
(भगवती सूत्र 25/7 एव औपपातिक सूत्र सू 20)

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-855 (धर्मसग्रह 3 अधिकार)

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-129 (पचाशक सटीक 16 विव)

4 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-129-855 (आवश्यकनिर्युक्ति अ 5/22)

5 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-855 (आवश्यक बृहद वृत्ति 1522)

जो जीव या चित्त का शुद्ध करता है ओर कर्म-मल का दूर करता है, धो डालता है इस कारण स उसे प्रायश्चित्त कहा जाता है ।

अभिधान राजेन्द्र काष में वह प्रायश्चित्त दम प्रकार का बताया गया है । यथा- 1. आलोचनार्ह 2. प्रतिक्रमणार्ह 3. तदुभयार्ह 4. विवेकार्ह 5. व्युत्सर्गार्ह 6. तपार्ह 7. छेदार्ह 8. मूलार्ह 9. अनवस्थाप्यार्ह और 10. पाराञ्चिकार्ह ।[1]

प्रस्तुत कोष में यह बताया गया है कि प्रायश्चित्तकर्ता को गुरु के समक्ष बच्चे की भाँति सरलहृदय से अपने दोष प्रकट कर देना चाहिए । यथा-

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा मायामय विप्पमुक्को उ ॥[2]

जंसे बालक जो भी उचित या अनुचित कार्य कर लेता है, वह सब सरलभाव से कह देता है इसीप्रकार साधक को भी खुले हृदय से अपने गुरुजनों के समक्ष दम्भ और अभिमान से रहित होकर यथार्थ आत्मालोचन करना चाहिए और जो साधक गुरुजनों के समक्ष मन के समस्त शल्यों {काँटों} को निकालकर आलोचना-निन्दा करता है उमकी आत्मा उसीप्रकार हल्की हो जाती है जैसे मिर का भार उतार देने पर भारवाहक,[3] परन्तु वह प्रायश्चित्त-आलोचना पर-माक्षी मे ही होनी चाहिए । कुशल मे कुशल वैद्य भी अपना उपचार स्वयं नहीं कर सकता है जैसा कि अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है-

---

1 दसविहे पायच्छित्ते पणत्ते । त जहा- आलायणारिहे पडिक्कमणारिहे तदुभयारिहे विवेगारिहे विउस्सग्गारिहे तवारिहे छेदारिहे मूलारिहे अणवट्ठप्पारिहे पारचियारिहे ।

-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5 पृष्ठ-856

2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ-428 431

3 उद्धरिय सव्वसल्लो आलोइअ निंदिओ गुरुसगासे ।
होइ अतिरेग लहुओ ओहरिअ भारोव्व ॥

-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 2 पृष्ठ-432

छत्तीस गुण सम्पन्ना, गण्णते णावि अवस्स कायव्वा ।
पर-सक्खिआ विसोही, सुट्ठु वि ववहार कुसलेण ॥
जह कुसलो विवेज्जो, अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाही ।
विज्जस्स य सोयंतो, पडिकम्मं समारभतो ॥[1]

आचार्य के छत्तीस गुणों से समन्वित एवं श्रेष्ठ ज्ञान व क्रिया-व्यवहार आदि में विशेष निपुण श्रमण भी 'पाप शुद्धि' पर साक्षी से ही करें, अपने आप नहीं । जैसे परमकुशल वैद्य भी अपनी व्याधि-बीमारी दूसरे वैद्य से कहता है, उससे ही इलाज करवाता है, एवं उस वैद्य के कथनानुसार कार्य भी करता है, वैसे ही आलोचक प्रायश्चित्त विधि में दक्ष होते हुए भी अपने दोषों की आलोचना प्रकट रूप से अन्य के समक्ष करे ।

प्रायश्चित्त करने से जीव पापों की विशुद्धि करता है एवं निरतिचार-निर्दोष बनता है । सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त स्वीकार करनेवाला साधक मार्ग और मार्ग-फल (दर्शन-ज्ञान) को निर्मल करता है । आचार और आचार-फल (चारित्र और मोक्ष) की आराधना करता है ।[2] विशुद्ध प्रायश्चित्त के द्वारा जीव सिरपर से बोझ के उतर जाने से भारवाहक (मजदूर) के समान हल्का होकर सद्ध्यान में रमण करता हुआ सुखपूर्वक विचरण करता है ।[3] इतना ही नहीं, अपितु कृतपाप के पश्चात्ताप से आत्मा वैराग्यवान् होकर क्षपक-श्रेणी प्राप्त करती है ।[4]

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2 पृष्ठ-450

2 पायच्छित्त करणेण पापकम्मविसोहि जणयइ निरइयारे आवि भविस्सइ, सम्म च ण पायच्छित्त पडिवज्जमाणे मग्ग च मग्गफल च विसोहेइ आयार च आयारफल च आराहेइ ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5 पृष्ठ-856

3 विसुद्ध पायच्छित्ते य जीवे निवुयहियए ओहरिय भरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुह सुहेण विहरइ ॥

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-428

4 पच्छाणुतावेण विरज्जमाणे करणगुणसेढि पडिवज्जइ ।

—अभिधान राजन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ-2018

2. विनय तप

प्रापणीयार्थक निञ् धातु में 'वि' उपसर्ग जोड़ने पर 'विनय' शब्द बना है। जिसका अर्थ है ले जाना, विशेष रूप से ले जाना या विशेष रूप से झुकना।

अभिधान राजेन्द्र कोष में 'विनय' शब्द की **विनयनं विनयः**[1] **कर्मापनयने विनीयते वाऽनेन कर्मेति विनयः**[2] **विशिष्टो नयः विनयः**[3] **विनयति नाशयति सकल क्लेशकारक मष्टं प्रकारं कर्म स विनयः**[4] जो कर्म-मल को दूर करता है, उसे 'विनय' कहते हैं। जो विशेष रूप से ले जाता है अथवा जो ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों को दूर करता है, वह 'विनय' कहलाता है।

विनय की विभिन्न परिभाषाओं, अर्थों और उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में यथास्थान किया गया है जिसकी विस्तृत चर्चा **अभिधान राजेन्द्र कोष के परिप्रेक्ष्य में : विनय एक विवेचन** लेख के अन्तर्गत आगे की जाएगी। अतः यहाँ इस पर विशेष प्रकाश डालना असमीचीन होगा।

3. वैयावृत्त्य तप (सेवा)

वैयावृत्य का शाब्दिक अर्थ करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा गया है– **व्यावृत्तस्य....भावः कर्म वा वैयावृत्त्यम्**[5] जिस तप में व्यावृत्त अर्थात् अपनी इच्छाओं, स्वार्थों, कषायों आदि से हटने की क्रिया हो, वह 'वैयावृत्त्य' है।

एक और परिभाषा दी गई है– **भक्तादिभिर्धर्मोपग्रह कारिवस्तुभिरूपग्रहकरणे**[6] धर्मसाधना में सहारा देने वाली

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1152

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1152

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1152

4 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1152

5 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1451

6 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1451

आहारादि वस्तुओं द्वारा सहायता पहुँचाना, **वैयावृत्त्य** कहलाता है ।

जैन परम्परा में 'वैयावृत्त्य का अत्यधिक महत्त्व बताया गया है । वह वैयावृत्त्य दस प्रकार का है– यथा आचार्य का वैयावृत्त्य, उपाध्याय का वैयावृत्त्य, स्थविर का वैयावृत्त्य, तपस्वी का वैयावृत्त्य, शैक्ष का वैयावृत्त्य, ग्लान (रोगी) का वैयावृत्त्य, साधर्मिक का वैयावृत्त्य, कुल (एक आचार्य के शिष्यों का समुदाय) का वैयावृत्त्य, गण { एक अथवा दो से अधिक आचार्य के शिष्यों का समुदाय} का वैयावृत्त्य और संघ का वैयावृत्त्य करना । इसप्रकार वैयावृत्त्य के ये मुख्य दस पात्र हैं । इनकी सेवा करता हुआ श्रमण महानिर्जरा और महापरिनिर्वाण {परमपद} प्राप्त करता है ।[1] इतना ही नहीं, अपितु **वैयावच्चेण तित्थयर नामगोयं कम्मं निबंधेइ**[2] वैयावृत्य {सेवा} करने से आत्मा तीर्थंकर होने जैसे उत्कृष्ट पुण्यकर्म का उपार्जन करती है ।

प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में सेवा का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए यह भी कहा है– **कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिए**[3] भिक्षु प्रसन्न व शान्तभाव से रूग्ण साथी की परिचर्या करें ।

उपर्युक्त आचार्य, उपाध्याय स्थविरादि दस में से प्रत्येक की तेरह प्रकार से वैयावृत्त्य {सेवा} की जा सकती है ।[4] अतएव प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में वैयावृत्त्य के 130 भेद वर्णित हैं । यथा–

1 दसविहे वैयावच्चे पणत्ते । त जहा- आयरिय वैयावच्चे, उवज्झाय वैयावच्चे, थेरेवैयावच्चे, तवस्सि वैयावच्चे, सेह वैयावच्चे, गिलाण वैयावच्चे, सघ वैयावच्चे, साहम्मिय वैयावच्चे, कुल वैयावच्चे, गण वैयावच्चे, सघ वैयावच्चे । आयरिय गेल वा वैयावच्च करेमाणे समणे निग्गथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष,भाग-6, पृष्ठ-1451

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1460

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3, पृष्ठ-894

4 दसविह वेयावच्च इम समासेण कायव्व तेरसपएहि ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1451

भत्तपाणे सयणासणे य पडिलेह पायमिच्छमद्धाणे ।
राया तणे दंडग्गहे य, गेलण्णे मत्ते य ॥[1]

1. आहार दना 2. पानी प्रदान करना 3. शयन के लिए संस्तारक प्रदान करना 4. बैठने के लिए आसनादि प्रदान करना 5. गुरुजनों का प्रतिलेखन करना 6. पाँव-पोंछना 7. रूग्णावस्था में औषध का प्रबन्ध करना 8. मार्ग में थकावट आदि होने पर सहारा देना 9. राजादि के क्रुद्ध होने पर आचार्य-संघ आदि की रक्षा करना 10. शरीर, उपधि आदि का संरक्षण करना 11. अतिचार विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लेना 12. ग्लान को समाधि उत्पन्न करना और 13. उच्चारप्रस्रवण {मल-मूत्र} आदि के पात्रों की व्यवस्था करना ।

ये सभी सेवा के अनेक प्रकार हैं । उत्तमपात्रों की सेवा करना कर्म-क्षय का हेतु है और कर्म क्षय से मोक्षोपलब्धि होती है ।

4. स्वाध्याय तप

आभ्यन्तर तप का चौथा अङ्ग स्वाध्याय है । स्वाध्याय मुख्य रूप से तीन अक्षरों से मिलकर बना है । सु+अधि+अय= स्वाध्याय ।

स्वाध्याय की परिभाषा देते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है- **सुष्ठु आ मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः**[2] व्याकरण की दृष्टि से इसका अर्थ होता है- सम्यक् प्रकार से सत्शास्त्रों को मर्यादापूर्वक पढ़ना स्वाध्याय है । स्वाध्याय आत्म-दीपक है । स्वाध्याय का अर्थ मात्र ग्रन्थों-शास्त्रों का पढ़ या सुन लेना ही नहीं है, अपितु अपने आपको पढ़ना ही स्वाध्याय है । इस दृष्टि से स्वाध्याय की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि **स्वस्य स्वस्मिन्**

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1451
2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-7 पृष्ठ-280

वा अध्ययनं स्वाध्यायः अपन अन्दर की गहराई में उतरकर अपन आपका अध्ययन करना (जानना) ही वास्तव में स्वाध्याय है । इम मन्दर्भ में अरस्तू ने भी बड़ी मुन्दर बात कही है नो दाउ मेल्फ (Know Thyself) अपने आप को जानो ।

अभिधान राजेन्द्र कोष में ज्ञान को सुरक्षित एवं स्थिर रखने की दृष्टि से स्वाध्याय के 5 सोपान बताए गए हैं । वे 5 सोपान हैं– वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा ।[1]

1. गुरु से विधिपूर्वक सूत्रार्थ-शास्त्रों का अध्ययन करना वाचना है[2] और वाचना {पठन-पाठन} से निर्जरा होती है ।[3]

2. गुर्वादि से सूत्र और अर्थ की वाचना लेने के बाद उस पाठ का मनन करते हुए यदि कोई सन्देह उत्पन्न हो जाय तो गुरु से विनयपूर्वक पूछकर समाधान प्राप्त करना पृच्छना है ।

3. पढ़ा हुआ ज्ञान-शास्त्र विस्मृत न हो, पढ़े हुए कण्ठस्थ किए गए ज्ञान को स्मृति में स्थिर एवं सुरक्षित रखने के लिए बार-बार दुहराना-पुनरावर्तन करना परावर्तना है ।

4. तत्त्व के अर्थ व रहस्य पर गहराईपूर्वक चिन्तन-मनन करना अनुप्रेक्षा है ।[4]

---

1 सज्झाए पचविहे पणत्ते । त जहा- वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा अणुप्पेहा धम्मकहा से त सज्झाए ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-280-292

2 वाचन वाचना । गुरुभ्य श्रवणे अधिगमे गुरुप्रदत्तैनैव सूत्रस्य परिपाटी रूपे । गुरु समीपे सूत्राक्षराणा ग्रहणे-

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1088

3 वायणाएण णिज्जर जणयइ । *—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1088*

4 गृहीत वाचनेनापि सशयाद्युत्पत्तौ पुन प्रष्टव्यमिति पूर्वाधीतस्य सूत्रादे शकितादौ प्रश्न पृच्छनेति। पृच्छना विशोधितस्य सूत्रस्य माभूद् विस्मरणमिति परिवर्तना, सूत्रस्यगुणनमित्यर्थ । सूत्रवदेथेऽपि सम्भवति विस्मरणमत सोऽपि परिभावनीय इत्यनुप्रेक्षणमनुप्रेक्षा, चिन्तनिकेत्यर्थ ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7 पृष्ठ-280

नोट-पृच्छना की व्याख्या भाग-5 पृष्ठ-324-25

परावर्तना-व्याख्या भाग-5 पृष्ठ- 627

अनुप्रेक्षा की व्याख्या भाग-1 पृष्ठ-399

5. जो कथाएँ मनुष्यों का धर्म की आर प्ररित कर, वह धर्मकथा कहलाती है । धर्म का कथन-व्याख्यान 'धर्म-कथा' कही जाती है[1] अथवा चिन्तन-मनन व अनुभव से प्राप्त ज्ञान जब लोकोपकारार्थ धर्म-सम्बन्धी कहानी-कथन के द्वारा दूसरों को ममझाया जाता है तब वह धर्म-कथन (धर्म-कथा) कहलाती है ।[2] एक परिभाषा यह भी दी गई है कि **अहिंसाऽऽदि धर्मप्ररूपणा धर्मकथेति** ।[3] अहिंसा-सत्य आदि से युक्त धर्म के स्वरूप की प्ररूपणा करना भी धर्म-कथा है । एक और अर्थपरक परिभाषा देते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है-

तव संजम गुणधारी, जं चरणरया कहिंति सब्भाव ।
सव्वं जगजीव हियं, सा उ देसिया समये ॥[4]

तप-संयम आदि गुणों से युक्त मुनि सद्भावपूर्वक समस्त जगत् के जीवों के हित के लिए जो कथन करते हैं, उसे 'कथा' {धर्म-कथा} कहा गया है ।

धीर पुरुषों ने धर्म-कथा चार प्रकार की कही हैं-

1. आक्षेपणी 2. विक्षेपणी 3. संवेगनी और 4. निर्वेदनी ।[5]

स्वाध्याय के ये पाँच भेद हैं । प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है कि **पढमाई सज्झायं वेरग्ग निबंधणं कुणइ विहिणा.** जो विधिपूर्वक उक्त पाँच प्रकार का स्वाध्याय करता है । वह वैराग्य का बन्धन करता है ।[6] स्वाध्याय का जीवन-विकास में

---

1 एवमभ्यस्तश्रुतेन धर्मकथा विधेयेति, धर्मस्य-श्रुतरूपस्य कथा-व्याख्या धमकथेति ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-7, पृष्ठ-280

2 धर्मसम्बद्धाया वार्ताया कथन धर्मकथा ।
धर्मदेशनाऽऽदिलक्षण वाकय प्रबन्ध रूपे कथा भेदे ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ-2711

3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ-2711

4 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-402

5 धम्मकहा बोधव्वा चउव्विहा धीरपुरिस पन्नता ।
अक्खेवणि विक्खेवणि सवेगे चेव निव्वेए ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ 2711

6 अभिधान राजेन्द्र काष भाग-7 पृष्ठ-292

अत्यधिक महत्त्व है । अतः स्वाध्याय तप की महत्ता-श्रष्ठता का प्रतिपादन करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा गया है- **स्वाध्याय समं तपो नास्ति**[1] स्वाध्याय के समान कोई तप नहीं है । स्वाध्याय अपने आप में एक बहुत बड़ी तपश्चर्या है । इसे सबसे बड़ा तप मानते हुए आगे और भी सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की गई है-

बारसविहम्मि वि तवे सब्भिंतर बाहिरे कुगलदिट्ठे ।
नऽवि अत्थि नऽवि य होहि, सज्झाय समं तवोकम्मं ॥[2]

बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय एक अभूतपूर्व तप है । इसके समान दूसरा तप न अतीत में कभी हुआ है, न वर्तमान में है, और न भविष्य में कभी होगा । स्वाध्याय में सब कुछ प्रत्यक्ष प्रतिबिम्बित होने लगता है । इस सन्दर्भ में प्रस्तुत कोष में कहा है-

उड्ढमह तिरियनरए, जोइसवेमाणिया य सिद्धि य ।
सव्वलोगालोगो, सज्झाय विउस्स पच्चक्खो ॥[3]

स्वाध्याय में लीन आत्मा को ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, तिर्च्छालोक, नर्क, ज्योतिषी वैमानिक, सिद्धि और सर्वलोकालोक प्रत्यक्ष भासित होता है । स्वाध्याय को पारदर्शी की उपमा देते हुए प्रस्तुत कोष में कहा है-

सज्झाएण पसत्थ झाणं जाणइ अ सव्वपरमत्थ ।[4]

स्वाध्याय से प्रशस्त ध्यान होता है और सर्व परमार्थ को जाना जाता है । स्वाध्याय में निरत व्यक्ति प्रतिक्षण वैराग्य पाता है ।[5] इतना ही नहीं अपितु **स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः**[6]

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-292

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-137 एव भाग-7 पृष्ठ-292

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7 पृष्ठ-1145

4 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-1145

5 सज्झाए वट्टंतो खणे-खणे जाइवेरग्ग ।
-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7 पृष्ठ-1145

6 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-7 पृष्ठ-292

स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात्कार होने लगता है । वह प्रतिक्षण अभिन्न मित्र की भाँति हमें सद्परामर्श दे सकता है इसलिए कम से कम चार बार तो उसका समागम करना चाहिए । एतदर्थ कहा गया है कि **चतुष्कालं स्वाध्यायः कर्तव्यः**[1] संयमी साधक को चार समय स्वाध्याय करना चाहिए । स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है ।[2] यहाँ तक कि स्वाध्याय के द्वारा साधक जन्म जन्मान्तरों में संचित कर्मों को भी क्षणभर में ही क्षीण कर देता है ।[3] स्वाध्याय का फल निरूपित करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है– **सज्झायएण नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।**[4] स्वाध्याय करने से ज्ञानवरणीय कर्मों का क्षय हो जाता है । स्वाध्याय एक प्रकार से ज्ञानोपासना है । इस सन्दर्भ में प्रस्तुत कोष में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई है–

अपुव्वणाण गहणे सुयभत्ती पवयणे पहावणया ।
एएहिं करणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥[5]

नए–नए ज्ञान का अभ्यास करने से आत्मा बीसवें पद तीर्थङ्कर गोत्र का उपार्जन करती है । इसलिए ज्ञानोपासना में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट विदित होता है कि जैन वाङ्मय में बारह प्रकार के तप वर्णित हैं । उनमें यह 'स्वाध्याय तप' अपना एक विशिष्टतम स्थान रखता है ।

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-286

2 सज्झाय वा निउत्तेण सव्वदुक्खविमोक्खणो ।
–अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-773

3 बहुभवे सचिय खलु सज्झाएण खणे खवइ ।
–अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-292

4 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-292

5 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2295

(ध्यान तप)

सामान्यतया ध्यान का अर्थ है- चिन्तन करना । **'ध्यै' चिन्तायाम्** धातु से 'ध्यान' शब्द बना है । अपने ध्येय में चित्त का एकाग्र हो जाना, तल्लीन हो जाना ध्यान है । प्रस्तुत कोष में 'ध्यान' को जिन परिभाषाओं में बाँधने का प्रयास किया गया है, वे निम्नांकित हैं-

छद्मस्थ की दृष्टि से ध्यान का लक्षण बताया है-

अंतोमुहुत्तमित्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि ।
छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं तु ॥[1]

अन्तर्मुहूर्त्त तक किसी एक वस्तु में चित्त की एकाग्रता होना ध्यान है । जिनेश्वरों का ध्यान तो योगों के निरोधरूप एक ही प्रकार का है । ऐसी ही ध्यान की एक और परिभाषा दी गई है-

अंतमुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं ।[2]

अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त्त (47 मिनिट) तक चित्त को किसी भी एक विषय पर एकाग्र करना ध्यान कहलाता है । एक व्याख्या यह भी की है-

उपयोगे विजातीय प्रत्ययाव्यवधानभाक् ।
शुभैकप्रत्ययोध्यानं सूक्ष्माऽऽभोगसमन्वितम् ॥[3]

स्थिर दीपक की लौ के समान शुभ लक्ष्य में एकाग्र, विरोधी लक्ष्य के व्यवधान रहित ज्ञान, जो सूक्ष्म विषयों के आलोचन सहित हो, उसे 'ध्यान' कहते हैं ।

किसी एक आलम्बन से मन को स्थिर करना भी ध्यान है ।[4]

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3, पृष्ठ-407
2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4 पृष्ठ-1661
3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ-1661
4 एकावलम्बनेन मन स्थैर्यं । —अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4 पृष्ठ-1661

और योगों का निरोध करना भी ध्यान है ।[1] वह ध्यान चार प्रकार का है- आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान ।[2]

आर्त्तध्यान

जो दुःख, पीड़ा, चिन्ता या शोक के निमित्त से अथवा किसी प्रकार के दुःख-पीड़ा या चिन्ता के समय हो, उसे आर्तध्यान कहते हैं ।[3] इस ध्यान के प्रभाव से मनुष्य तिर्यञ्चगति पाता है ।[4]

रौद्र ध्यान

इस ध्यान में हिंसक व क्रूरभावों का प्राधान्य रहता है । अतः कहा है- **दुष्टोऽध्यवसायो हिंसाऽऽद्यतिक्रौर्यानुगतं रौद्रं**[5] मन-मस्तिष्क में हिंसादि के अतिक्रूर परिणाम (विचार) आना रौद्र ध्यान है । रौद्र ध्यानी को तो नर्क गति के अतिरिक्त और कोई गति ही नहीं है ।[6]

धर्मध्यान

धर्माधर्म के विवेक-चक्षुदाता श्रुतधर्म और अहिंसा-सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्यादि चारित्र-धर्म का गहराई से ध्यान-चिन्तन करना धर्मध्यान कहलाता है ।[7] इस ध्यान के फलस्वरूप मनुष्य देवलोक में जाता है ।[8]

---

1 योगनिरोधे -अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ-1661

2 चत्तारि झाणा पणत्ता । त जहा- अट्टे झाणे रोद्दे झाण धम्मे झाणे सुक्के झाणे ।
-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ 1661

3 तत्र ऋत दु ख तस्य निमित्त तत्र वा भवम ऋत वा पीडिते भवमार्तध्यानम ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ 1661

4 अट्टेण तिरिक्खगति ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ-1663

5 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ 1661

6 रोद्देज्झाणे गम्मति नरय ।
अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 4 पृष्ठ 1663

7 श्रुतचरणधर्मादनपेत धमम ।
अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 4 पृष्ठ 1661

8 धम्मेण देवलोय ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 4 पृष्ठ 1663

शुक्ल ध्यान

ध्यान की यह सर्वोच्च निर्मल दशा है । जो चिन्तन आठ प्रकार के कर्म-मल को दूर करता है और आत्मा को शुद्ध व पवित्र बनाता है, वह शुक्ल ध्यान है ।[1] शुक्ल ध्यान सीधे सिद्ध गति में ले जाता है ।[2]

इनमें प्रथम के दो ध्यान शुभ हैं और शेष दो अशुभ हैं ।

मन को एकाग्र व स्थिर करने से ध्यान होता है, परन्तु ध्यान का अधिकारी होता कौन है ? इस सन्दर्भ में अभिधान राजेन्द्र कोष में बहुत सुन्दर बात कही गई है-

जितेन्द्रियस्य धीरस्य प्रशान्तस्य स्थिरात्मनः ।
सुखासनस्य नासाग्र, न्यस्तनेत्रस्य योगिनः ॥[3]

जो योगी जितेन्द्रिय है, धीर है, प्रशान्त है, स्थिर मनवाला है और नासाग्र (नाक के अग्रभाग) पर दृष्टि को स्थिर कर सुखासन से बैठा है; वही ध्यान का अधिकारी है ।

ऐसा योग्य ध्याता योगी अपने लक्ष्य पर मन को एकाग्र करता है, तभी ध्यान में तल्लीनता आती है । ध्यान में, ध्याता, ध्येय और ध्यान ये तीन तत्त्व प्रमुख हैं । तभी तो यह कहा गया है-

ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं त्रयं यस्यैकतां गतम् ।
मुनेरनन्यचित्तस्य, तस्य दुःख न विद्यते ॥[4]

ध्याता, ध्येय और ध्यान ये तीनों जब एकरूपता को प्राप्त हो

1 *शोधयत्यष्टप्रकार कर्ममल शुच वा क्लामयतीतिशुक्लम् ।*
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-1661

2 *सिद्धिगति सुक्कझाणेण ।*
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-1663

3 *अभिधान राजेन्द कोष, भाग-4, पृष्ठ-1673*

4 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-1673*

जाते हैं, तब उस अनन्यचित्त विशुद्ध मुनि को कोई दुःख नहीं होता है अर्थात् सारे दुःख समाप्त हो जाते हैं ।

ध्यानानल के प्रभाव से चिरसंचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

जह चिरसंचिअमिंधणमणलोय पवणसहिओ दुअं डहइ।
तह कम्मिंधणममिअं, खणेण झाणानलो डहइ ॥[1]

जिसप्रकार चिरकाल से इकट्ठे किए हुए ईन्धन को हवा के साथ रही हुई आग मिनटों में जला डालती है, उसीप्रकार अपरिमित कर्म-ईन्धन को ध्यानाग्नि भी क्षण भर में जलाकर भस्म कर देती है और भी आगे कहा है–

जहवा घण संघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति ।
झाण पवण वहूआ तह कम्मघणा विलिज्जंति ॥[2]

अथवा जैसे हवा के झोंके से बादलों के ढेर क्षण भर में बिखर जाते हैं, वैसे ही ध्यान-वायु से कर्म रूपी बादल कुछ ही क्षणों में विलीन हो जाते हैं । इसलिए अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है–

झाण जोगं समाहट्टु कायं विउसेज्ज सव्वसो ।[3]

ध्यान-योग का अवलम्बन लेकर देहभाव का सर्वतोभावेन विसर्जन करना चाहिए ।

इसप्रकार प्रतिदिन ध्यानाभ्यास करते रहना चाहिए । जैसा कि कहा गया है **यद्ध्यायति तद्भवति** जो जिसको ध्याता है, वह तद्रूप (उसी रूप) बन जाता है ।

प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में आर्त्त-रौद्र आदि ध्यान के प्रत्येक भेद-प्रभेदों की विशद व्याख्या स्व-स्व शब्द पर यथास्थान की गई है ।

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-1672
2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-1672
3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1407

6. व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)

आभ्यन्तर तपों की श्रेणि में 'व्युत्सर्ग' अन्तिम तप है । व्युत्सर्ग तप बहुत ही कठोर है । व्याकरण के नियमानुसार 'वि' उपसर्ग और 'सृज्' उत्सर्गे धातु से 'व्युत्सर्ग' शब्द निष्पन्न है । 'वि' का अर्थ है विशिष्ट और 'उत्सर्ग' का अर्थ है- त्याग अर्थात् विशिष्ट त्याग । प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में 'वि' शब्द विविध और विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।[1] त्याग की विशिष्ट विधि को व्युत्सर्ग कहा गया है । अभिधान राजेन्द्र कोष में इसकी एक परिभाष। देते हुए कहा है- **अतिचार शुद्ध्यर्थं कायस्य व्युत्सर्जने, कायममत्ववर्जने**[2] अतिचार-दोषों की शुद्धि के लिए क.यिक क्रियाओं का त्याग 'कायोत्सर्ग' है, अथवा काया के प्रति जो ममता रही हुई है उसका त्याग कायोत्सर्ग कहलाता है । व्युत्सर्ग को कायोत्सर्ग भी कहते हैं ।

इस तप में बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की वस्तुओं का त्याग किया जाता है । इस दृष्टि से व्युत्सर्ग दो प्रकार का है- द्रव्यव्युत्सर्ग और भाव-व्युत्सर्ग ।[3]

द्रव्यव्युत्सर्ग

इस व्युत्सर्ग में गण, शरीरादि बाह्य वस्तुओं का त्याग करना होता है ।

भावव्युत्सर्ग

भाव व्युत्सर्ग में कषायादि आभ्यन्तर वस्तुओं का त्याग किया जाता है ।[4]

1 विविधार्थो विशेषार्थो वा वि शब्द
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1123

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3 पृष्ठ-404

3 विउरसगे दुविहे पणत्त त जहा- दव्वविउस्सग्ग भावविउस्सग्ग अ ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1123

4 द्रव्यतो गणशरीरापन्याहार विषयो भावस्तु क्रोधादि विषयइति ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6, पृष्ठ-1123

द्रव्य व्युत्सर्ग चार प्रकार का है- गणव्युत्सर्ग, देहव्युत्सर्ग, उपधिव्युत्सर्ग और भक्तपानव्युत्सर्ग ।[1]

भावव्युत्सर्ग के तीन भेद बताए हैं- कषाय व्युत्सर्ग, संसार व्युत्सर्ग और कर्म व्युत्सर्ग ।[2]

व्युत्सर्ग के उपर्युक्त भेदों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत कोष में स्व-स्व स्थान पर की गई है ।

परन्तु इतना तो सत्य है कि व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) तप की साधना करने वाले साधक की यह दृढ़ धारणा होती है कि यह शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है । इस देह को छोड़ना है । यह नश्वर है, क्षण भंगुर है, अशाश्वत है और आत्मा अविनाशी है, शाश्वत है और स्वकर्मफलभोक्ता है इसमें ममत्त्व रखना दुःख का मूल है । इस परिबोध से 'आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है' का भेद-विज्ञान जाग्रत होता है और जिसे यह भेद-विज्ञान होता है वह **एगोहं नत्थि मे कोई, नाह मन्नस्स कस्सवि** इस एकत्व भावना का तन्मयता के साथ चिन्तन करता है । इसप्रकार के दृढ़ चिन्तन से देहासक्ति शिथिल हो जाती है । उसके प्रति आदर भाव घट जाता है और इसी दृढ़ धारणा के आधार पर वह यह सोचता है कि दुःख एवं क्लेशकर उस देह की ममता को छेद डालो । उसके प्रति जो आसक्ति-भाव है उससे दूर हो जाओ । अगर इस असार शरीर से कोई पारलौकिक अर्थ सिद्ध होता है तो उसके लिए निरन्तर प्रयास करना चाहिए । इसप्रकार

---

1 दव्व विउस्सग्गे चउव्विहे पणत्ते । त जहा- सरीरविउस्सगे गण विउस्सग्गे उवहिविउस्सग्गे भत्तपाण विउस्सग्गे ।

-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1123

2 भाव विउस्सग्गे तिविहे पणत्ते । त जहा- कसाय विउस्सग्गे ससार विउस्सग्गे कम्म विउस्सग्गे।

-अभिधान-राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1123

कायात्सर्ग का मूल अर्थ है– शरीर का अहङ्कार–ममकार छूट जाना, मानसिक ग्रन्थियों का खुल जाना और तनावों का घट जाना ।[1] इसप्रकार प्रस्तुत कोष में बारह प्रकार के तपों का और उनके अवान्तर भेद-प्रभेदों का वैज्ञानिक विश्लेषण विस्तार के साथ किया गया है ।

श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी महाराज ने भी श्रीविंशतिस्थानक पद पूजा में बारह प्रकार के तपों का स्पष्ट उल्लेख किया है ।[2] बाह्य तप से आभ्यन्तर तप प्रधान जरूर है, किन्तु आभ्यन्तर तप की पुष्टि के लिए बाह्य तप की भी आवश्यकता है । आभ्यन्तर तप की उपेक्षा करके किया हुआ बाह्य तप भी मोक्ष साधक नहीं बन सकता । अतः दोनों एक दूसरे के पूरक हैं ।

इसप्रकार अभिधान राजेन्द्र कोष में उपर्युक्त बारह प्रकार के तपों की सूक्ष्म, हृदयग्राही एवं विस्तृत व्याख्या व्यवस्थित रूप से स्व–स्व शब्द पर यथास्थान की गयी है ।

तप के अन्य प्रकार

बारह प्रकार के तपों के अतिरिक्त प्रस्तुत कोष में आजीविकों के चार प्रकार के तप का भी वर्णन उपलब्ध होता है । यथा– **आजीवियाणं चउव्विहे तवे पण्णत्ते । तं जहा– उग्ग तवे घोर**

1 अन्नं इमं सरीरं अन्नो जीवुत्ति एव कयबुद्धि ।
दुक्खपरिकिलेसकरं छिंद ममत्तं सरीराओ ॥
अन्यदिदं शरीरं निजकर्मोपात्तमालयमात्रमशाश्वतम अन्योजीवोऽस्याधिष्ठाता शाश्वत स्वकृतकर्मफलोपभोक्ताऽयम् इत्येव कृतबुद्धि सन दुःखपरिक्लेशकरं छिन्धि ममत्त्वं शरीरात किंच यद्यनाप्यसारेण कश्चिदर्थ सपद्यते पारलौकिक तत सुतरा यत्न कार्य ।
–अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3, पृष्ठ-428

2 बाह्याभ्यन्तर भेदथी सुन्दर, तपना दोय प्रकारा ।
कर्म निकाचित निर्जरा जेहथी पामे भव्य अपारा रे ॥
अणसण ऊणोदरी वृत्ति सक्षेप, पुनि रस त्याग करनारा ।
काय क्लेश सलीनता तप ए बाह्यथकी निर्धारा रे ॥सप्तम॥
पायच्छित्त विनय ने वेयावच्च, सिज्झाय ध्यान करनारा ।
उत्सर्ग षट ए अभ्यन्तर दुभेदे तपे, वाचयम अणगारा रे ॥सप्तम॥
–जिनेन्द्र पूजा सग्रह पृष्ठ-203

तवे, रसनिज्जूहणया, जिब्भिंदिय पडिसंलीणया ।[1] (चतुर्विधमाजीविकानां तपः) ।

आजीविकों के मतानुसार तप चार प्रकार का होता है । वह निम्न है-

1. उग्र तप- जो आचरण में कठिन हो ।

2. घोर तप- जो दिखने में बड़ा कठिन हो ।

3. रसनिर्यूहण तप- स्वादिष्ट वस्तु न लेना ।

4. जिह्वेन्द्रिय प्रतिसंलीनता तप- रसनेन्द्रियों के विषयों का संकोच करना ।

गीता में तप के भेद

तप के विविध भेदों का निरूपण न केवल जैनागमों में मिलता है, प्रत्युत गीता में भी तप के स्वरूप व भेदों की चर्चा की गयी है; जिसका चित्रांकन प्रस्तुत कोष में यथावत् हुआ है । गीता के मन्तव्यानुसार तप के स्वरूप व उसके उद्देश्य को दृष्टिपथ में रखकर तप का जो वर्गीकरण किया गया है, वह इसप्रकार है- 1. शारीरिक तप, 2. वाचिक तप और 3. मानसिक तप ।[2] शारीरिक से वाचिक और वाचिक से मानसिक तप श्रेष्ठ माना गया है और यह तप जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से निर्जरा का कारण है ।[3] इसका स्पष्टीकरण निम्नांकित रूप से द्रष्टव्य है- गीता के अनुसार

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2205

2 देवातिथि गुरुप्राज्ञ-पूजन शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीर तप उच्यते ॥
अनुद्वेगकर वाक्य, सत्य प्रिय हित च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसन चैव, वाङ्मय तप उच्यते ॥
मन प्रसाद सौम्यत्व, मौनमात्म विनिग्रह ।
भावसशुद्धिरित्येतद् मानस तप उच्यते ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4 पृष्ठ-2205

3 शारीराद्वाङ्मय सार, वाङ्मयान्मानस शुभम ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्ट-निर्जराकरण तप ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ-2205

उपर्युक्त तीनों तप यदि निष्काम वृत्ति से (फलाकांक्षा से रहित होकर) दृढ़ श्रद्धा के साथ किये जाते हैं, तो वे 'सात्त्विक तप' हैं[1] जो उत्कृष्ट व प्रथम श्रेणी के हैं और निर्जरा करने वाले हैं ।

यदि वह तप सत्कार-मान-सन्मान एवं पूजा-प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करने के प्रयोजन से दम्भ पूर्वक किया जाता है, तो वह राजस तप है,[2] जो मध्यम श्रेणी का है ।

जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से तथा मन, वचन व काया की पीड़ा सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह 'तामस तप' कहलाता है,[3] जो जघन्य श्रेणी का है ।

गीता की दृष्टि से यह तृतीय श्रेणी का तप सर्वथा निम्नस्तर का माना गया है । जैनदर्शन में तो इसप्रकार के तप का सर्वथा ही निषेध किया गया है । यहाँ तक कि जैनदर्शन की दृष्टि में तो द्वितीय श्रेणी का राजस तप भी सर्वथा त्याज्य है; चूँकि इसमें आत्म-शोधन एवं परमात्मा की आराधना की प्रवृत्ति न हो कर दिखावा, प्रदर्शन तथा यश-पूजा-प्रतिष्ठा आदि की भूख ही प्रबल रहती है । तामस तप आत्मशुद्धि की दृष्टि से तो हेय है ही, परन्तु नैतिक दृष्टि से भी त्याज्य है ।

तप से विविध लाभ एवं उद्देश्य

मानव जब कभी किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, तो उसके सामने उसके फल की कल्पना रहती है, उद्देश्य और लक्ष्य भी

1 सात्त्विक, राजस, तामसमिति वा त्रिविधम । यथा-
तपश्च त्रिविध ज्ञेयमफलाऽऽकाङ्क्षिभिर्नरे ।
श्रद्धया परया तप्त, सात्त्विक तप उच्यते ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2205

2 सत्कार मानपूजार्थ, तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्त, राजस चलमध्रुवम् ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2205

3 मूढग्रहेण यच्चाऽऽत्मपीडया क्रियते तप ।
परस्योच्छेदनार्थं वा, तत्तामसमुदाहृतम् ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2205

रहता है । संस्कृत की एक उक्ति है- **प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते** - बिना प्रयोजन के मन्दबुद्धि या मूर्ख व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता । तप के सम्बन्ध में तर्कशील मनीषी यह चर्चा प्रस्तुत करते हैं कि आखिर तप का आचरण हम क्यों करें ? उससे क्या लाभ ? और मानवीय जीवन में उसकी क्या उपयोगिता है ?

भारतीय संस्कृति का एक प्रसिद्ध सूक्त है- **तपोमूला हि सिद्धयः ।** समस्त सिद्धियाँ तपमूलक हैं । सब की जड़ तप है । तप में अद्भुत, अचिन्त्य, अनुपम शक्ति सन्निहित है । इसकी शक्ति के समक्ष अन्य शक्तियाँ परास्त हो जाती हैं । इसमें इतनी शक्ति समाहित है कि इसके द्वारा सर्व प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं । जैसा कि 'जयन्तसेन सतसई' में यथार्थ ही कहा है-

तप ताकत अद्भुत है, तप से मिटते रोग ।
जयन्तसेन तपे उसे, मिलता इष्ट सुयोग ॥[1]

तपश्चरण के द्वारा तीर्थङ्करत्व, चक्रवर्तित्व आदि समस्त पद भी प्राप्त होते हैं । तप से असंख्य, अगणित लब्धियाँ, शक्तियाँ, ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ भी उपलब्ध होती हैं । इसीलिए प्रवचनसारोद्धार में कहा है- **परिणामतववसेणं इमाइं हुंति लद्धीओ**[2]- जितनी भी लब्धियाँ हैं, वे सब तप का ही परिणाम हैं । ये ही भाव विश्वपूज्य ने श्री सिद्धचक्र पूजा की ढाल में अभिव्यक्त किये हैं । पूज्य गुरुदेवश्री के ही शब्दों में-

सर्व लब्धि संपद वरे, तप जे साधे निराशीजी ।
कर्म निकंदन ते करी, भवि होय शिवपुर वासीजी ॥[3]

तपः साधना से आत्मा में अद्भुत ज्योति प्रदीप्त होती है और एक विचित्र अलौकिक शक्ति जागृत होती है । यहाँ तक कि **भव**

1 जयन्तसेन सतसई, पृष्ठ-25
2 प्रवचनसारोद्धार, द्वार 270, गाथा 1492
3 जिनेन्द्र पूजा सग्रह, सिद्धचक्र पूजा मे तपपद पूजा

करें । 4. केवल कर्म निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप न करें ।[1]

वास्तव में भौतिक लाभ के लिए तप करना अमृत में पैर धोने जैसा है । तात्पर्य यह है कि साधक को कर्म-क्षय करने की दृष्टि से, आत्मशुद्धि की दृष्टि से ही पूर्वोक्त बारह प्रकार के तपों का आचरण करना चाहिए । इसीलिए यथार्थ ही कहा है- **निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा**- केवल मात्र कर्म निर्जरा के लिए ही तप करना चाहिए । प्रस्तुत सूत्र में साधक को पौद्‌गलिक प्रतिफल की आशा-आकांक्षा से रहित (निष्काम) तप करने का संकेत किया गया है । इसी संदर्भ में आगे यह भी कहा गया है-

नो पूयणं तवसा आवहेज्जा[2] - तप से पूजा-प्रतिष्ठादि की कामना न करे, क्योंकि सन्मान-पूजा प्रतिष्ठा से तप नष्ट हो जाता है ।[3] अतः तपश्चरण करने का एकमात्र पवित्र लक्ष्य-ध्येय यही होना चाहिये-कर्मनिर्जरा ! आत्मशुद्धि ! तप निर्जरा का और मोक्ष का प्रमुख साधन है ।

1 चउव्विहा खलु तव समाहि भवइ । त जहा-नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो तवमहिट्ठिज्जा, न अन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा ।

-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2206

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2204

3 सम्मानात् तपस क्षय ।

-आपस्तब स्मृति 10/9

चतुर्थ परिशिष्ट

जैन दर्शन वाटिका में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ : अध्ययन/गाथादि

पुष्प–4

पुष्प - 4

अभिधान राजेन्द्र : तप

पुस्तक पृष्ठ संख्या	संदर्भ क्रमांक	संदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
177	1	धर्मसंग्रह सटीक 2 अधिकार
178	1	स्थानांग सूत्र सटीक 4/3/3
178	2	आवश्यक मलयगिरि द्वितीय खण्ड 2 अ.
178	3	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, सिद्धचक्र पूजा में तपपद पूजा
178	4	आवश्यक निर्युक्ति गाथा 103
178	5	उत्तराध्ययन 28/35
179	1	उत्तराध्ययन 30/ 5-6
179	2	आचारांग निर्युक्ति 282
180	1	तैत्तिरीय आरण्यक 2/14
180	2	धम्मपद 14/6
180	3	उत्तराध्ययन 12/44
181	1	उत्तराध्ययन 12/37
181	2	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, सिद्धचक्र पूजा में तपपद पूजा
181	3	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, विंशति स्थानक पद पूजा में तपपद पूजा
181	4	जयन्तसेन सतसई पृष्ठ-25
182	1	बृहत्कल्प भाष्य 4401
182	2	निशीथ चूर्णि 84
182	3	उत्तराध्ययन 19/37
182	4	उपासक दशांग 1/76
182	5	निशीथ चूर्णि 3332
182	6	आवश्यक निर्युक्ति 1/96

पुस्तक पृष्ठ संख्या	संदर्भ क्रमांक	संदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
182	7	सूत्रकृतांग सटीक 1/12
183	1	कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय ब्राह्मण 2/219
183	2	मनुस्मृति 11/239
183	3	मनुस्मृति 11/235
183	4	तैत्तिरीय आरण्यक 1/2
183	5	महाभारत आदि पर्व 90/22
183	6	संयुक्तनिकाय 1/1/58
183	7	सुत्तनिपात 1/4/2
184	1	आचारांग 1/4/3
184	2	आचारांग 1/4/3
185	1	महानिशीथचूर्णि 14
186	1	दशवैकालिक 8/35
186	2	ज्ञानसार-तपाष्टक 31/7
186	3	आचार्य जिनसेन
186	4	पंचाशक सटीक 5 विवरण
187	1	आवश्यक मलयगि खण्ड 2 अ. 1
187	2	पंचाशक सटीक विवरण 16
187	3	आवश्यक मलयगिरि खण्ड 2 अ. 1
187	4	धर्मसंग्रह सटीक अधिकार 3
188	1	स्थानांग वृत्ति 5 ठाणा 1 उ.
188	2	दशवैकालिक 8/27
188	3	उत्तराध्ययन 4/8
188	4	उत्तर'ध्ययन 29/3
188	5	उत्तराध्ययन 9/48
189	1	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, सिद्धचक्र पूजा में तपपद पूजा
189	2	भगवती सूत्र 25/7

पुस्तक पृष्ठ मख्या	मदर्भ क्रमाक	मदभ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
190	1	स्थानांग सूत्र सटीक 2/1
190	2	स्थानांग सूत्र सटीक 6 ठाणा
190	3	मरणसमाधि प्रकीर्णक 127
190	4	उत्तराध्ययन सूत्र सटीक 3 अध्ययन
190	5	उत्तराध्ययन सूत्र मटीक 3 अध्ययन
190	6	भगवती सूत्र 25/7
191	1	उत्तराध्ययन सूत्र सटीक 30/9
191	2	भगवती सूत्र सटीक 25/7
191	3	भगवती सूत्र सटीक 25/7
192	1	भगवती सूत्र सटीक 25/7
192	2	उत्तराध्ययन 30/10-11
192	3	भगवती सूत्र सटीक 25/7
192	4	उत्तराध्ययन 30/12
192	5	उत्तराध्ययन सूत्र सटीक 30/2
193	1	उत्तराध्ययन 30/13
193	2	उत्तराध्ययन सूत्र सटीक 3 अ.
193	3	उत्तराध्ययन सूत्र सटीक 30 अध्ययन
193	4	मरणसमाधि प्रकीर्णक 134
194	1	स्थानांग सटीक 3/3
194	2	उत्तराध्ययन सटीक 30/8
194	3	आचारांग 1/5/4/164
194	4	पिण्डनिर्युक्ति गाथा 642
194	5	भगवती सूत्र 25/7
195	1	उत्तराध्ययन 30/14
195	2	उत्तराध्ययन सटीक 30/24
195	3	भगवती सूत्र 25/7
196	1	भगवती सूत्र 25/7

पुस्तक पृष्ठ संख्या	संदर्भ क्रमाक	संदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
212	3	औपपातिक सूत्र 19 तथा भगवती सूत्र 25/7
213	1	औपपातिक सूत्र 19 तथा भगवती सूत्र 25/7
213	2	भगवती सूत्र सटीक 25/7
213	3	स्थानांग सूत्र सटीक 2/1
213	4	प्रश्नव्याकरण सूत्र सटीक 5 संवर द्वार
214	1	औपपातिक सूत्र, सूत्र 20 एवं भगवती सूत्र 25/7
214	2	धर्मसंग्रह 3 अधिकार
214	3	पंचाशक सटीक 16 विवरण
214	4	आवश्यक निर्युक्ति अ. 5/22
214	5	आवश्यक बृहद वृत्ति 5 अ. 1522
215	1	औपपातिक सूत्र, सूत्र 20 एवं भगवती सूत्र 25/7
215	2	ओघनिर्युक्ति 801 एवं आतुर प्रत्याख्यान प्रकीर्णक-32
215	3	ओघनिर्युक्ति 806
216	1	ओघनिर्युक्ति गाथा 794-795 तथा गच्छाचार प्रकीर्णक गाथा 12-13
216	2	उत्तराध्ययन 29/19
216	3	उत्तराध्ययन 29/14
216	4	उत्तराध्ययन 29/8
217	1	आवश्यक बृहद् वृत्ति 2 अध्ययन
217	2	आवश्यक बृहद् वृत्ति 2 अध्ययन
217	3	स्थानांग सूत्र सटीक 3/3
217	4	आवश्यक मलयगिरि खण्ड 1 अ.

पुस्तक पृष्ठ संख्या	सदर्भ क्रमाक	सदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
217	5	स्थानांग 3/3/188 टीका प. 145
217	6	स्थानांग टीका 5/1
218	1	व्यवहार सूत्र उद्देश 10 एवं स्थानांग 10/144
218	2	उत्तराध्ययन 29/43
218	3	सूत्रकृतांग सूत्र 1/3/3/13
218	4	आवश्यक चूर्णि जिनदास गणिकृत पृ. 134
219	1	व्यवहार भाष्य
219	2	स्थानांग टीका 5/3/465
220	1	भगवती सूत्र सटीक 25/7
220	2	भगवती सूत्र सटीक 25/7
220	3	उत्तराध्ययन 29/19
220	4	स्थानांग सूत्र टीका 5 ठाणा
221	1	स्थानांग टीका ठाणा 5
221	2	स्थानांग सूत्र टीका ठाणा 5
221	3	औपपातिक सूत्र वृत्ति
221	4	दशवैकालिक निर्युक्ति 210
221	5	दशवैकालिक 3/99
221	6	धर्मरत्नप्रकरण-44
222	1	दसपयन्ना मूल सटीक
222	2	उपदेशमाला 337
222	3	उपदेशमाला 339
222	4	उपदेशमाला 338
222	5	उपदेशमाला 338
222	6	पातन्जल योगदर्शन 2/44
223	1	निशीथ चूर्णि 19 अध्ययन
223	2	उत्तराध्ययन 26/10

पुस्तक पृष्ठ सख्या	सदर्भ क्रमाक	मदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
223	3	दसपयन्ना-चंदविज्जा पयन्ना-91
223	4	उत्तराध्ययन 29/20
223	5	ज्ञाताधर्म कथा-8
224	1	स्थानांग सूत्र 4 ठाणा 1
224	2	आवश्यक निर्युक्ति 1477
224	3	द्वात्रिंशत् देखना 18 द्वात्रिंशिका
224	4	विशेषावश्यक सभाष्य सबृहद्वृत्ति
225	1	समवायांग सूत्र सटीक 1 समवाय
225	2	स्थानांग 4 ठाणा 1
225	3	स्थानांग सूत्र सटीक 4 ठाणा 1
225	4	स्थानांग सूत्र सटीक 4 ठाणा 1
225	5	स्थानांग सूत्र सटीक 4 ठाणा 1
225	6	स्थानांग सूत्र सटीक 4 ठाणा 1
225	7	स्थानांग सूत्र सटीक 4 ठाणा 1
225	8	स्थानांग सूत्र सटीक 4 ठाणा 1
226	1	स्थानांग सूत्र सटीक 4 ठाणा 1
226	2	स्थानांग सूत्र सटीक 4 ठाणा 1
226	3	ज्ञानसार 30/6
226	4	ज्ञानसार 30/1
227	1	आवश्यक बृहद्वृत्ति 4 अध्ययन, गाथा-103
227	2	आवश्यक बृहद्वृत्ति 4 अध्ययन, गाथा 104
227	3	सूत्रकृतांग 1/8/26
228	1	आवश्यक मलयगिरि खण्ड 1
228	2	उत्तराध्ययन सूत्र सटीक 29 अध्ययन
228	3	भगवती सूत्र 25/7
228	4	भगवती सूत्र सटीक 25/7
229	1	भगवती सूत्र 25/7

पुस्तक पृष्ठ सख्या	सदर्भ क्रमाक	सदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
229	2	भगवती सूत्र 25/7
230	1	आवश्यक निर्युक्ति 1566
230	2	जिनेन्द्र पूजा संग्रह पृ.-203
231	1	स्थानांग 4 ठाणा 2
231	2	भगवद् गीता 17/14-15-16
231	3	गच्छाचार पयन्ना सटीक 2 अधिकार
232	1	भगवद् गीता 17/17
232	2	भगवद् गीता 17/18
232	3	भगवद् गीता 17/19
233	1	जयन्तसेन सतसई पृष्ठ-25
233	2	प्रवचनसारोद्धार, द्वार 270, गाथा-1492
233	3	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, सिद्धचक्र पूजा में तप पद पूजा
234	1	उत्तराध्ययन 30/6
234	2	दशवैकालिक 9/4/10 एवं 10/7
234	3	यजुर्वेदीय मैत्रायणी आरण्यक 4/3
234	4	उत्तराध्ययन 29/27
234	5	उत्तराध्ययन 29/27
235	1	उत्तराध्ययन टीका 29/27
235	2	आचारांग सूत्र सटीक 1/2/1
235	3	दशवैकालिक सटीक 9/4
235	4	दशवैकालिक सटीक 9/4
235	5	दशवैकालिक सटीक 9/4
235	6	दशवैकालिक सटीक 9/4
236	1	दशवैकालिक सटीक 9/4
236	2	सूत्रकृतांग 1/7/27
236	3	आपस्तंब स्मृति 10/9

पुष्प-5

अभिधान राजेन्द्र :

प्रतिसेवना

श्री अभिधान राजेन्द्र कोष में प्रतिसेवना का स्वरूप

भारतीय श्रमणों ने अपनी आचारविधि में आचरण की निर्दोषता का सदैव ध्यान रखा है; फिर भी कभी क्षेत्रीय तो कभी व्यक्तिगत परिस्थितियाँ अवश्य ही उनके आचार को प्रभावित करती रही हैं। आदर्श एवं यथार्थ के बीच सदा से द्वन्द्व रहा है। कभी व्यक्ति आदर्श को शिरोधार्य कर स्वयं के जीवन में उसे साकार करने का प्रयत्न करता है; तो कभी यथार्थ व्यक्ति को विवश कर या परवश बना कर आदर्श से विमुख कर देता है। आचार विज्ञान ने इस रहस्य को अधीत (पढ़कर) कर इसके उभयात्मक स्वरूप को आविर्भूत किया, क्योंकि एक ही आचार मार्ग पर अनेकों को चलने में अनेक प्रतिकूलताएँ उपस्थित होती रहीं; इसलिए आचार के क्षेत्र में प्रारम्भ से ही उत्सर्ग और अपवाद की व्यवस्था मान्य रही है।

श्रमण-संस्कृति में औत्सर्गिक और आपवादिक इन दो मार्गों का विधान किया गया है। प्रतिसेवना औत्सर्गिक मार्ग न होकर आपवादिक मार्ग है। जब साधक अपने नियम के प्रतिकूल मर्यादा का अतिक्रमण कर विपरीत आचरणा कर लेता है, तब यह आचरण प्रतिसेवना का रूप धारण कर लेता है। प्रतिसेवना में दोष-सेवन करने पर साधक पुनः उसकी आलोचना करके अपने विधिमार्ग में लौट आता है।

जैन वाङ्मय में बाह्य तप की भाँति आभ्यन्तर तप की भी छह श्रेणियाँ वर्णित हैं, जिनमें सबसे पहली सीढ़ी है प्रायश्चित्त। प्रायश्चित्त तप के दस व चार भेद बताये गये हैं। उन चार भेदों में पहला है-प्रतिसेवना प्रायश्चित्त।[1]

1 चउव्विहे पायच्छित्ते पन्नत्ते। त जहा-पडिसेवणा-पायच्छित्ते, सजोयणा पायच्छित्ते, आरोवणा पायाच्छित्ते, पलिउचणा पायच्छित्ते।

-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-135

'प्रतिसेवना' जैनधर्म का एक पारिभाषिक शब्द है । 'प्रतिसेवना' शब्द प्रति+सेवना से निष्पन्न है । अभिधान राजेन्द्र कोष में 'प्रतिसेवना' का शाब्दिक अर्थ करते हुए कहा है- **प्रतिसेव्यते इति प्रतिसेवना, प्रतीपं सेवना प्रतिसेवना, प्रतिषिद्धस्य सेवना प्रतिसेवना ।**[1]-अर्थात् प्रतिषिद्ध, निषिद्ध या अनाचरणीय के आचरण करने को प्रतिसेवना कहते हैं । उसकी शुद्धि के लिए जो आलोचना-प्रतिक्रमण आदि किये जाते हैं, उसे 'प्रतिसेवना प्रायश्चित्त' कहा गया है । संक्षेप में, पाप या दोषों के सेवन से होने वाली संयम की विराधना को जैन वाङ्मय की परिभाषा में 'प्रतिसेवना' शब्द से अभिहित किया गया है ।

'प्रतिसेवना' (दोष सेवना) के दस कारण बताये गये हैं-दर्प, प्रमाद, अनाभोग, आतुर, आपत्ति, शङ्कित, सहसाकार, भय, प्रद्वेष और विमर्ष ।[2] इन्हीं दस कारणों से दोष-सेवन होता है, जिससे संयम की विराधना होती है ।

1. दर्प प्रतिसेवना

अहंकारवश आगमनिषिद्ध प्राणातिपातादि जो दोष सेवन किये जाते हैं और जिससे संयम की विराधना होती है, उसे दर्प प्रतिसेवना कहते हैं ।[3]

2. प्रमाद प्रतिसेवना

मद्यपान, विषयाकांक्षा, कषाय, निद्रा एवं विकथा इन पाँच प्रकार के प्रमादों के कारण होने वाली संयम विराधना प्रमाद प्रतिसेवना कही जाती है ।[4]

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5, पृष्ठ-361

2 दप्पप्पमादऽणाभोगा आतुरे आवतीसु तह चेव ।
तितिणे सहसक्कारे, भयपदोसा य वीमसा ॥
-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5 पृष्ठ-366

3 आगम प्रतिषिद्ध प्राणातिपाताऽऽद्या सेवायाम् ।
-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृष्ठ-2455

4 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-340-341

3. अनाभोग प्रतिसेवना

अनुपयोग या अज्ञानवश जो संयम विराधना होती है, वह अनाभोग प्रतिसेवना है ।[1]

4. आतुर प्रतिसेवना

क्षुधा, पिपासा आदि कष्ट से व्याकुल होकर की जाने वाली संयम की विराधना आतुर प्रतिसेवना कहलाती है ।[2]

5. आपत् प्रतिसेवना

किसी तरह की आपत्ति, उपद्रव या संकटकालीन परिस्थिति उपस्थित होने पर अकल्प का सेवन करने से होने वाली संयम की विराधना 'आपत् प्रतिसेवना' कही जाती है । आपत्ति भी चार प्रकार की बतायी गयी है- द्रव्यापत्ति, क्षेत्रापत्ति, कालापत्ति और भावापत्ति ।[3]

द्रव्यापत्ति- प्रासुक-निर्दोष आहारादि न मिलने पर ।[4]

क्षेत्रापत्ति- अटवी, समुद्र, तट आदि भयंकर स्थानों में रहना पड़े तब ।[5]

कालापत्ति- दुर्भिक्ष आदि पड़ जाये तब ।[6]

1 *अनाभोगो विस्मृतिस्तत्र प्रतिसेवना ।* —अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-310
आभोगनमाभोग न आभोगोऽनाभोग अत्यन्त विस्मृतौ । अज्ञाने । अनुपयोगे । असावधानताया। —अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृष्ठ-309
अणाभोग णाम अत्यन्त विस्मृति —अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6, पृष्ठ-341

2 *पढम वितीयद्रुते वा धितो व ज सेवे आतुरा एसा ।* —अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-366

3 *दव्वादि अलाभे पुण चउव्विधा आवती होती ।*
दव्वादि आदि सद्दातो, खेत्त काल भावा घेप्पति ॥ —अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5, पृष्ठ-366

4 *दव्वतो फासुग दव्व ण लब्भति ।* —अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5, पृष्ठ-366

5 *खेत्तओ अद्धाण पडिवण्ण ताण आवती ।* —अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-366

6 *कालतो दुब्भिक्खादिसु आवती ।* —अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5, पृष्ठ-366

भावापत्ति– शरीर के रोगग्रस्त हो जाने पर या चोट आदि लग जाने पर ।[1]

प्रतिसेवना के मुख्य दो रूप

साधक जीवन में जब उपर्युक्त चार आपत्तियाँ या परिस्थितियाँ आती हैं, तो न चाहते हुए भी बाध्य हो कर उसे अपनी मर्यादा के विरूद्ध आचरण करना पड़ता है । ऐसी परिस्थिति में विद्या-प्रयोग, सुरक्षा, जलतरण आदि के द्वारा संघ की और स्वयं के संयम की सुरक्षा करनी पड़ती है । इन परिस्थितियों में दोष-सेवन के पीछे कायिक मोद वा विषय भोग नहीं होकर संयम एवं संघ रक्षा की भावना होती है ।

सामान्यतः प्रतिसेवना के उपर्युक्त दस कारणों से प्रेरित होकर दोष-सेवन किये जाते हैं, परन्तु दोष-सेवन (प्रतिसेवना) मुख्यतः दो तरह से होता है–सकारण और निष्कारण । इसी को दृष्टिपथ में रखकर प्रतिसेवना के मूलतः दो भेद बताये गये हैं– दर्पिका और कल्पिका ।[2] मूलगुण एवं उत्तर गुण की अपेक्षा से इनके भी दो-दो भेद निरूपित हैं ।[3]

परन्तु अब यहाँ प्रश्न सहज ही उठता है कि आखिर वह दर्पिका और कल्पिका क्या है? उसका अपना स्वरूप कैसा है? साधक जींवन में उसका क्या महत्त्व है? इस सन्दर्भ में पहले दर्प और कल्प का विश्लेषण करते हुए कहा गया है- **कहं पमाओ दप्पो अप्पमाओ वा कप्पो ?**[4]- प्रमाद दर्प कैसे और अप्रमाद कल्प

1 भावतो पुण गिलाणस्स आवती ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-366

2 पडिसेवणा दुविहा भवति दप्पिया कप्पिया य ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-340

3 दुविधा दप्पे कप्पे मूलुत्तरे पुणो दुविधा ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-345

4 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-340

कैसे ? इसके उत्तर में कहा है- 'अनुपयोग लक्षण रूप प्रमाद होता है और उपयोग पूर्वक क्रिया लक्षण रूप अप्रमाद कहलाता है । जो प्रमाद है, वही दर्प है और जो अप्रमाद है, वही कल्प कहलाता है ।'[1] जैसा कि कहा है- **पमायादप्पा भवति अप्पमाया कप्पा भवति**[2]- 'प्रमाद भाव से किया जाने वाला अपवाद सेवन दर्प होता है और वही अप्रमाद भाव से किया जाने पर कल्प-आचार हो जाता है ।' ज्ञानादि की अपेक्षा से किया जाने वाला अकल्प सेवन भी कल्प है ।[3]

प्रतिसेवना दो प्रकार की है- द्रव्यमयी और भावमयी । मात्र द्रव्यमयी दृष्टि से पदार्थ सेवन करना द्रव्यमयी प्रतिसेवना है और भाव से उपयोग करना वह भावमयी प्रतिसेवना ।

जीव के भाव, अध्यवसाय दो प्रकार के होते हैं-कुशल और अकुशल अर्थात् शुभ और अशुभ । कुशल ज्ञानदर्शनादि रूप है और अकुशल भाव अविरति रूप । जहाँ शुभ भावों से वस्तु का सेवन किया जाता है, वह कल्प प्रतिसेवना है और जहाँ अशुभ भावों से वस्तु का सेवन किया जाता है, वह दर्प प्रतिसेवना है ।[4]

दर्पिका-कल्पिका का स्वरूप

अभिधान राजेन्द्र कोष में दर्पिका-कल्पिका के स्वरूप को सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है-

रागद्दोसाणुगता तु दप्पिया, कप्पिया तु तदभावा ।

1 *अनुपयोग लक्खणो पमाद, जो पमाओ सो दप्पो, वा अतिवात लक्खणो दप्पो 1 उवभोग पुव्वकरण किरियालक्खणो अपमाद । कप्पा पुण अपमत्तस्स अप्पमातो कप्पो भण्णति ।*
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-340

2 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-340*

3 *णाणातिकारणावेक्ख अकप्प सेवणा कप्पो ।*
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-340

4 *पडिसेवणाउ भावो, सो पुण कुसलो य होज्जऽकुसलो वा ।*
कुसलेण होइ कप्पो, अकुसल परिणामओ दप्पो ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-135 एव 361

आराधतो तु कप्पे, विराधतो होति दप्पेणं ।[1]

पीतिलक्खणो रागा, अपीतिलक्खणो दोसो, अनुगता सहिया णिक्कारणलक्खणो दप्पः ।[2]

प्रीति की परिणति वाला राग है और अप्रीति की परिणति द्वेष में है । अतः राग-द्वेष पूर्वक की जाने वाली प्रतिसेवना (निषिद्ध आचरण) दर्पिका है, सदोष है । राग-द्वेष से रहित प्रतिसेवना (अपवाद काल में परिस्थितिवश किया जाने वाला निषिद्ध आचरण) कल्पिका है और यह निर्दोष है । कल्पिका में संयम की आराधना है और दर्पिका में निश्चित ही संयम की विराधना है ।

इस सम्बन्ध में अभिधान राजेन्द्र कोष में यहाँ तक कहा गया है- **सालंबसेवी समुवेति मोक्खं**[3]-जो साधक किसी विशिष्ट ज्ञान दर्शनादि हेतु के उद्देश्य से अपवाद का-निषिद्ध का आचरण भी करता है, तब भी वह मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी है । वस्तुतः बाह्य वस्तु के आधार पर किसी को अणुमात्र भी कर्मबन्ध नहीं होता । कर्मबन्ध अपनी भावनाओं पर आधारित होता है । जैसा कि कहा है-

अणुमित्तो वि न कस्सइ बन्धो परवत्थु पच्चओ भणिओ।[4]

गीता में भी अर्जुन को यही समझाया है-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र, लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थ कर्म कौन्तेय ! मुक्त-सङ्ग समाचर ॥

यह यज्ञ विहीन लौकिक जीवन कर्मबन्धकारक है । इसलिए हे अर्जुन ! आसक्ति से रहित हो कर कार्य करो । इसीप्रकार योगवाशिष्ठ में भी महर्षि वशिष्ठ राम से कहते हैं- 'हे राम । जीवन जीने में अनासक्ति का महत्त्व है । जैसे- विदेहराज जनक ।

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-426 एव 370
2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-370
3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-7 पृष्ठ-778 एव भाग-2 पृष्ठ-421
4 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5 पृष्ठ-1621

भावना और परिस्थिति की इसी भूमिका पर जैन धर्म का आचारप्रासाद अवस्थित है ।

वस्तुतः जिनेश्वर देव ने न किसी कार्य की एकान्त अनुज्ञा दी है और न एकान्त निषेध ही किया है । उनकी आज्ञा यही है कि साधक जो भी करे, सचाई और प्रामाणिकता के साथ करे ।[1] जिनशासन में किसी भी क्रिया का एकान्त रूप से न तो निषेध ही है और न एकान्त रूप से विधान ही है । परिस्थिति को देखकर ही उनका निषेध या विधान किया जाता है । जैसा कि रोग में चिकित्सा के लिए ।[2]

किसी भी कार्य में मुख्यता कार्य की नहीं, भावना की होती है । देश कालादि के कारण अपवाद का सेवन भी शुद्धाशय से करना है । यदि किसी कारणवश अतिरेक हो जाय तो अवश्य ही प्रायश्चित्त का विधान है । जैसे- संघीय संकट, गच्छीय बाधा, व्यक्तिगत आत्म-संयम की सुरक्षा आदि के लिए प्रतिसेवना का आचरण अपवाद रूप में मान्य किया है । ऐसी परिस्थिति में किया गया लब्धि-विस्फोट, लब्धि-प्रयोग आदि कल्प प्रतिसेवना है । उसके सेवन से साधक विराधक नहीं होता, फिर भी जैन परम्परा में उसके लिए भी प्रायश्चित्त लेने का विधान किया गया है ।

इसी बात की संपुष्टि करते हुए कहा गया है- 'उत्सर्ग मार्ग में समर्थ मुनि को जिन बातों का निषेध किया गया है; विशिष्ट कारण होने पर अपवाद मार्ग में वे सब कर्त्तव्य रूप में विहित हैं ।[3]

---

1 ण वि किंचि अणुण्णाय, पडिसिद्ध वा वि जिणवरिंदेहि ।
एसा तेसि आणा, कज्जे सच्चेण होतव्व ॥
-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-947 एव भाग-3, पृष्ठ-903

2 एगतेण निसेहो, जोगेसु न देसिओ विहीवाऽवि ।
दलिअ पप्प निरोहो, होज्ज विही वा जहा रोगे ॥ -ओघ निर्युक्ति-55

3 उस्सग्गेण निसिद्धा-इँ, जाइ दव्वाइँ सथरे मुणिणो ।
कारणजाते जाते, सव्वाणि वि ताणि कप्पति ॥
-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-947

इसी सन्दर्भ में और भी स्पष्ट करते हुए कहा है- **णिक्कारणम्मि दोसा, पडिबंधे कारणम्मि णिद्दोसा** ।[1] बिना विशिष्ट प्रयोजन के अपवाद दोष रूप हैं; किन्तु विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए वही निर्दोष हैं ।

प्रस्तुत कोष में दर्पिका और कल्पिका के अतिरिक्त प्रतिसेवना के अन्य दो भेदों का भी उल्लेख किया गया है- मूलगुण प्रतिसेवना और उत्तर गुण प्रतिसेवना । मूलगुण प्रतिसेवना पाँच प्रकार की है-प्राणातिपात, मृषावादादि । उत्तरगुण प्रतिसेवना पिण्डविशुद्धि आदि अनेक प्रकार की है ।[2]

दर्पिका-कल्पिका प्रतिसेवना के भेद

जैन वाङ्मय में दर्पिका दस प्रकार की और कल्पिका प्रतिसेवना चौबीस प्रकार की बतायी गयी है ।[3]

अपवादकाल में परिस्थितिवश चौबीस प्रकार से निषिद्ध आचरण किया जाता है, वहाँ परिस्थितिवश आपवादिक मार्ग में निषिद्ध आचरण होने पर भी संयम की विराधना नहीं होती । इसके विपरीत निष्कारण जानबूझ कर राग-द्वेष पूर्वक दस प्रकार से निषिद्ध आचरण किया जाता है । अतः संयम की विराधना होती है। वह दस प्रकार की दर्पिका प्रतिसेवना निम्नांकित रूप में प्रस्तुत है- दर्प, अकल्प, निरालम्ब, त्यक्त-चारित्र, अप्रशस्त, विश्वस्त, अपरीक्षी, अकृतयोगी, अननुतापी और निःशंक प्रतिसेवना । कल्पिका, प्रतिसेवना चौबीस प्रकार की है-दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, प्रवचन, समिति, गुप्ति, साधर्मिक वात्सल्य, कुल, गण, संघ, आचार्य, असह, ग्लान, बाल, वृद्ध, जल, अग्नि, चोर, श्वापद, भय, कांतार, आपत्ति और

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-973

2 मूलगुणे उत्तरगुणे, दुविहा पडिसेवणा समासेण ।
मूलगुणे पचविहा, पिंडविसोहाऽइया इयरा ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-361-362

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-915-916

व्यसन । इसप्रकार उपर्युक्त इन चौबीस कारणों से जो दोष-संवन होता है, वह कल्प है ।[1] इनकी सविस्तृत विवेचना प्रस्तुत कोष में यथास्थान समुपलब्ध होती है ।

6. शङ्कित अथवा तिंतिण प्रतिसेवना

ग्रहण करने योग्य आहार आदि में किसी दोष की शंका हो जाने पर भी उसे ग्रहण कर लेना शङ्कित प्रतिसेवना कहलाती है[2] अथवा अभिमान से किये गये कार्य का आवेशपूर्वक प्रायश्चित्त करना तिंतिण प्रतिसेवना है । यथा-प्रतिकूल काष्ठ आदि का संयोग होने पर अग्नि में से चिनगारियाँ तिंतिण हो कर निकलती है, वह द्रव्य तिंतिण है । आहारादि नहीं मिलने पर अथवा अरुचिकर पदार्थ के उपलब्ध होने पर मानसिक कौतुक या झुंझलाहट होना भावतिंतिण है ।[3]

---

1 *त पुण होज्जा सेविय दप्पेण अहव होज्ज कप्पेण ।*
दप्पेण दसविह तु, इणमो वोच्छ समासेण ॥
दप्प अकप्प निरालब चियत्ते अप्पसत्थ वीसत्ते ।
अपरिच्छि अकडजोगी, अणाणुतावी य णिस्सको ॥
एय दप्पेण मवे, इणमन्न कप्पिय मुणेयव्व ।
चउवीसइ अभिहाण, तमह वुच्छ समासेण ॥
दसणणाण चरित्ते, तव पवयण समिति गुत्ति हेउ वा ।
साहम्मिय वच्छल्ले, ण वा वि कुलतो गणस्सेव ॥
सघस्सायरियस्स य, असहस्स गिलाण बाल वुड्डस्स ।
उदयग्गि चोर सावय, भय कत्तारो वतीसवणो ॥
एयन्नतरागाढे, दसण नाणे चरण सालबे ।
परिसेविउ कया वि, होइ समत्थो पसत्थेसु ॥
एतेषामन्तरोदिता नामन्यतरस्मिन् आगाढे समुत्थिते दर्शन ज्ञान चरण सालबे प्रतिसेव्या कल्प्य प्रतिसेवना कृत्वा कदाचित्प्रशस्तेषु शुभेषु प्रयोजनेषु कर्तव्येषु समर्थो भवति । तत· एषा कल्पिका प्रतिसेवना ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-915-916

2 *आधाकर्मादिशका कलुषितो यदन्नाद्यादत्ते तच्छङ्कितम् ।*

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-36

(क) ज सकेत समावज्जे इति वचनात् । एषणीयेऽप्यनेषणीयतया शङ्किते प्रतिसेवनायाम् ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-36-37

3 *पाए तितिणो दुविहो-दव्वे भावे य । दव्वे ते वरूयदारूय अग्गिमाहिय तिडितिडेति । भावे आहारादिसु अलब्भमाणेसु तिडितिडेति । असरिसे वा दव्वे लद्धे तिडि तिडेति । तितिणिय दप्पेण करेमाणस्स पच्छित ।*

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-366-367

7. सहसाकार प्रतिसेवना

अकस्मात् कोई कार्य उपस्थित हो जाने पर बिना सोचे समझे कोई अनुचित कार्य कर लेना सहसाकार प्रतिसेवना है ।[1]

8. भय प्रतिसेवना

राजा, मनुष्य, चोरादि के भय से जो दोष-सेवन होता है, वह भय प्रतिसेवना कही जाती है । यथा- राजादि के अभियोग से मार्गादि दिखा देना अथवा सिंहादि हिंस्र पशुओं के भय से वृक्षारूढ होना इत्यादि ।[2]

9. प्रद्वेष प्रतिसेवना

किसी के प्रति प्रद्वेष (क्रोधादि कषायवश) या ईर्ष्या से (मिथ्या आरोप लगाकर) संयम की विराधना करना प्रद्वेष प्रतिसेवना कहलाती है ।[3]

10. विमर्श प्रतिसेवना

शिष्य-शैक्षकादि की परीक्षा के लिए (उसे धमकाकर या उस पर मिथ्या आरोप लगाकर) की गयी संयम विराधना विमर्श प्रतिसेवना कहलाती है ।[4]

इसप्रकार उपर्युक्त दस कारणों से जो दोष-सेवन होता है, साधक उसके लिए मन में पश्चात्ताप आदि करता है और जहाँ जब जिस प्रकार के प्रायश्चित्त की विधि होती है, वह पूर्ण कर आत्मा को विशुद्ध बनाता है ।

1. *आकस्मिक क्रियायाम् । अविमृश्य कारित्वे ।*
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-7, पृष्ठ-602

2 *भयं भीतिर्नृचौराऽऽदिभ्यस्तस्मात् प्रतिसेवणा भय प्रतिसेवणा । यथा राजाऽऽद्यभियोगात् मार्गाऽऽदि दर्शयति, सिंहादि भयाद् वा वृक्षमारोहति । उक्त च- भयमभिओगेणसीहमादीउ ।*
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-1384 एवं पृष्ठ-366-367

3 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-366-367*

4 *दव्वे भवि तिंतिण, भयमभिओगेण सीहमादीउ ।*
कोहादी तु पदोसा, वीमसा सेहमादीण ॥
-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-5, पृष्ठ-366-367

(क) शैक्षकादि परीक्षायाम् । -अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृष्ठ-1332

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रतिसेवना अपवाद मार्ग है। यह प्रतिसेवना भी श्रमण जीवन की आचार विधि के साथ आबद्ध है; क्योंकि व्यक्ति को देशकालगत परिस्थितियों के अधीन रहना होता है । वस्तुतः प्रतिसेवना मूलतः दर्पिका और कल्पिका रूप है, जिसमें से एक तो जीवन को अधोवाहिनी की ओर ले जाती है, तो दूसरी ऊर्ध्ववाहिनी की ओर ।

आपत्प्रतिसेवना में यद्यपि चारित्र के प्रति उपेक्षा भाव तो नहीं रहता; तथापि विकट परिस्थिति आ पड़ने पर संकट को पार कर निराबाध स्थिति में पहुँचने का प्रयास रहता है । अतः इसे परिस्थिति की विवशता कहा जा सकता है, चूँकि मानव को परिस्थितियों का दास कहा गया है । परिस्थिति से बाध्य हो कर ही साधक अपवाद मार्ग का सेवन करता है; परन्तु उसमें उसकी भावना उत्सर्ग मार्ग या विधि मार्ग तक पहुँचने की ही रहती है ।

अभिधान राजेन्द्र कोष में प्रतिसेवना, मूलोत्तरगुण प्रतिसेवना, दर्पिका-कल्पिका रूप प्रतिसेवना आदि के स्वरूप का विस्तृत विवेचन उट्टंकित है; किन्तु यहाँ प्रतिसेवना के स्वरूप की मात्र एक झलक प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

पंचम परिशिष्ट

जैन दर्शन वाटिका में,
प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ

पुष्प–5

अभिधान राजेन्द्र : प्रतिसेवना

पुस्तक पृष्ठ सख्या	सदर्भ क्रमाक	सदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
251	1	स्थानांग 4/1
252	1	व्यवहार सूत्र वृत्ति 1उद्देश
252	2	भगवती सूत्र 25/7 तथा स्थानांग सूत्र 10
252	3	निशीथ चूर्णि
252	4	निशीथ चूर्णि 1 उ. एवं उत्तराध्ययन निर्युक्ति 180
253	1	स्थानांग सूत्र सटीक 10 ठाणा, पंचवस्तुक सटीक 2 द्वार, निशीथ चूर्णि 1 उ.
253	2	निशीथ चूर्णि उद्देश 1 उ.
253	3	निशीथ चूर्णि 1 उद्देश
253	4	निशीथ चूर्णि 1 उद्देश
253	5	निशीथ चूर्णि 1 उद्देश
253	6	निशीथ चूर्णि 1 उद्देश
254	1	निशीथ चूर्णि 1 उद्देश
254	2	निशीथ चूर्णि 1 उद्देश
254	3	निशीथ चूर्णि 1 उद्देश
254	4	निशीथ चूर्णि 1 उद्देश
255	1	निशीथ चूर्णि 1 उद्देश
255	2	निशीथ चूर्णि 91
255	3	निशीथ चूर्णि 92
255	4	व्यवहार सूत्र वृत्ति 1 उ.

पुस्तक पृष्ठ सख्या	सदर्भ क्रमाक	सदभ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
256	1	बृहत्कल्प भाष्य 4943 एवं निशीथ भाष्य 363
256	2	बृहत्कल्प भाष्य एवं निशीथ भाष्य
256	3	व्यवहार भाष्य पीठिका 184
256	4	ओघनिर्युक्ति-57
257	1	निशीथ भाष्य 5248 तथा बृहदावश्यक भाष्य 3330
257	2	ओघनिर्युक्ति-55
257	3	निशीथ भाष्य 5245 तथा बृहदावश्यक भाष्य 3327
258	1	निशीथ भाष्य 5284
258	2	व्यवहार सूत्र वृत्ति 1 उ. 1 गाथा 41
258	3	व्यवहार सूत्र वृत्ति 10 उ.
259	1	व्यवहार सूत्र वृत्ति 10 उ.
259	2	धर्मसंग्रह सटीक 3 अधिकार
259	2 (क)	स्थानांग सूत्र सटीक 10/3
259	3	निशीथ चूर्णि 1 उ.
260	1	भगवती सूत्र सटीक 25/8 एवं धर्म संग्रह सटीक 2 अधिकार
260	2	स्थानांग सूत्र सटीक 10 ठाणा
260	3	निशीथ सूत्र सचूर्णि 1
260	4	निशीथ चूर्णि 1 उ. गाथा 480
260	4 (क)	स्थानांग सूत्र सटीक 10/1

पुष्प–6

अभिधान राजेन्द्र :

विनय

श्री अभिधान राजेन्द्र : विनय

विषय-प्रवेश

सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय विनय की गौरवमय महिमा से मण्डित है । जैन वाङ्मय, वैदिक-साहित्य अथवा बौद्ध त्रिपिटकों की भांति समूची भारतीय-परम्परा 'विनय' की रसधारा से आप्लावित है । जैन परम्परा की समस्त साधना-आराधना, द्विगुणित प्रकाश के साथ विनय से जाज्वल्यमान हो जाती है ।

तिल के कण-कण में स्नेह-संचित है । दूध के कण-कण में घृत परिव्याप्त है । पुष्प की कली-कली में सौरभ समाहित है । इक्षु के खण्ड-खण्ड (पौरे-पौरे) में मधुरता अवस्थित है । इसी प्रकार जैन साधना के आचार-विचार में विनय समाहित है । जिस तन में तेज न हो, वह तन शव कहलाता है । जिस मन में तेज न हो, वह मन निष्क्रिय होता है । इसीतरह जो साधना विनय से अभिमण्डित है, वही साधना वास्तविक अर्थ में सफलता प्रदायिनी साधना है, अन्यथा विराधना है । 'विनय' एक प्रकार का तप है । अतः विनय की परिचर्चा करने से पूर्व तप पर संक्षेप में विचार करना समुचित होगा ।

जैनदर्शन में तप के समस्त अंगों पर गहराई एवं विस्तार से वैज्ञानिक चिन्तन किया गया है । उसकी सर्वग्राही सूक्ष्मतम चर्चाएँ हुई हैं ।

तप तो अनन्त सामर्थ्य तथा शक्ति का अक्षय स्रोत है और इसी से आत्मपूर्णता-प्राप्ति होती है । प्रकृति-विजय और आत्म-दर्शन की कुञ्जी भी तप ही है । वास्तव में बाह्याभ्यन्तर शुद्धि के लिए

तप एक वैज्ञानिक साधना है । तप से तो सम्पूर्ण विशुद्धता, निर्मलता और प्रोज्ज्वलता प्राप्त होती है ।

यह सत्य है कि तप में सब कुछ समाहित है, परन्तु अभिधान राजेन्द्र कोष में इस सम्बन्ध में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही गई है– **असिधारागमणं चेवं दुक्करं चरिउं तवो**[1] अर्थात् तपाचरण तलवार की पैनी धार पर चलने के समान दुष्कर है । 'जयन्तसेन-सतसई' में कतिपय दोहों के माध्यम से तप विषयक चर्चा की गई है ।[2]

जैन परम्परा में तप की व्यापकता के अन्तर्गत जीवन को उच्चतम शिखर पर पहुँचाने वाले सभी साधनों का समावेश हो जाता है । वहाँ तप को परम मङ्गल ही नहीं, अपितु महामङ्गल माना है ।

जैनेतर ग्रन्थों, तैत्तिरीयआरण्यक में **तपो ब्रह्मेति**[3], 'तप स्वयं ब्रह्म है' कहा गया है । इसीतरह 'शतपथ ब्राह्मण', में **तपसा वे लोकं जयंति**[4], **तपो वाऽग्नि**[5] कहकर तप की महत्ता प्रतिपादित की गई है । तैत्तिरीयब्राह्मण में **तपो में प्रतिष्ठा**[6] बताकर उसका महत्त्व अंकित किया गया है । इसीप्रकार उपनिषद् ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर तप की स्वर-लहरियाँ झंकृत हुई हैं । तथागत बुद्ध ने भी अपने महामंगल सूत्र में चार उत्तम मंगलों में 'तप' को सर्वप्रथम एवं उत्तममंगल माना है और इसी की आराधना की प्रेरणा दी है । वे सुत्तनिपात में कहते हैं– **सद्धाबीजं तपो वुट्ठि**[7] अर्थात् साधना में 'श्रद्धा' बीज है और 'तप' वर्षा है ।

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ-295

2 जयन्तसेन सतसई, पृ-25

3 तैत्तिरीय आरण्यक, 9/2

4 शतपथ ब्राह्मण, 3/4/4/27

5 शतपथ ब्राह्मण, 3/4/3/3

6 तेत्तिरीय ब्राह्मण, 3/7/7

7 सुत्तनिपात, 1/5/2

वास्तव में 'तप' आत्मशोधन की एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है । इसीलिए अभिधान राजेन्द्र कोष में ये स्वर झंकृत हुए हैं- **सोहवो तवो**[1] तप आत्मशुद्धि करता है और **तपसा सर्वाणि सिद्ध्यन्ति**[2] तपसे सर्वकार्य सिद्ध होते हैं । वह इस लोक में आत्मबल प्रदान करता है तो परलोक में पाथेय का काम करता है ।

तप एक अखण्ड इकाई है, परन्तु उसकी प्रक्रियाएँ एवं विधियाँ भिन्न-भिन्न होने से आगमों में उसके दो भेद (बाह्य और आभ्यन्तर) करके प्रत्येक के छह-छह भेद बताए गए हैं-

साधक के जीवनरूपी स्वर्ण के लिए बाह्य तप अग्नि है, और आभ्यन्तर तप उसकी चमक है । सोना पहले आग में तपाया जाता है तभी उस पर चमक लाई जा सकती है । आभ्यन्तर तप कहने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि साधक को बाहर से भीतर की ओर जाना है । बहिर्मुखता से अर्न्तमुख होना है । स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश करना है ।

तात्पर्य यह है कि आभ्यन्तर तप का सीधा सम्बन्ध अन्तरंग-शुद्धि से है । इसका अर्थ है- अन्तर्शुद्धि-प्रक्रिया । इसका अधिक सम्बन्ध मानस के साथ जुड़ा रहता है ।

'विनय' आभ्यन्तर तप का दूसरा भेद है । इसका सम्बन्ध अन्तर्मन से रहता है । जिसका हृदय मृदु, कोमल और ऋजु होता है, वही जीवन में 'विनय' को आत्मसात् कर सकता है । बैंत के समान उसमें भी कोमलता होती है, मृदुता होती है; अतः उसे चाहे जितना झुकाया जा सकता है और चाहे जिस आकृति में ढाला जा सकता है ।

अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है- **विणओ वि तवो तवो वि धम्मो**[3] विनय स्वयं एक तप है और वह आभ्यन्तर तप

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृ 444
2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4, पृ 2489
3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृ 545

(कर्म निर्जरा का उत्तम साधन) होने से श्रेष्ठ धर्म है । धर्म-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है और यह त्रिवेणी संगम ही मोक्ष-मार्ग है । इसलिए मोक्ष-लक्ष्य-प्राप्ति हेतु विनय को सर्वांगीण रूप से जानना और आचरित करना नितान्त आवश्यक है ।

साधना में विनय की अनिवार्यता बताते हुए **विणय मूलो धम्मो**[1] अथवा **धम्मस्स मूलं विणयं वयन्ति**[2] कथन द्वारा विनय को धर्म का मूल बताकर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया गया है । कहा गया है कि 'विनय' समस्त धर्माचरण और जीवन व्यवहार की मूल आधारशिला है । इसकी आराधना किए बिना धर्म की समस्त साधना-आराधना निःसार और निरर्थक है । इसीलिए जैन वाङ्मय में प्रस्तुत कथन पर पुनः पुनः इतना अधिक बल दिया गया है । **विणियाओ विप्पमुक्कस्स** d v ks/kEe ksd v ksro ks[3] - विनय से रिक्त क्या धर्म और क्या तप ? क्या ज्ञान और क्या संयम ? सब राख में धूल उंडलने के समान हैं ।

जैन विचारणा में विनय से अछूता कोई क्षेत्र नहीं रहा है । इसप्रकार विनय से तन-मन और वचन तीनों में ही मृदुता और ऋजुता की मधुर सुवास महकती रहती है ।

'विनय' शब्द की व्युत्पत्ति

व्याकरण के नियमानुसार 'वि' उपसर्ग और 'निञ्' प्रापणे धातु से विनय बनता है । अतः यहाँ 'विनय' शब्द की व्युत्पत्ति एवं उसके विविध अर्थों पर विचार करना अपेक्षित है ।

'वि' का अर्थ है-विशिष्ट और 'नय' का अर्थ है-ले जाना। मूलतः प्रापणीयार्थक निञ् धातु में 'वि' उपसर्ग जोड़ने पर 'विनय'

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3, पृ 418
2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1, पृ 696
3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3, पृ 523

शब्द निष्पन्न हुआ है । जिसका अर्थ निकलता है-ले जाना, विशेष रूप से ले जाना या विशेष रूप से झुकना । यहाँ इसका यही अर्थ समीचीन प्रतीत होता है ।

इसप्रकार अभिधान राजेन्द्र कोष में 'विनय' शब्द की **विनयनं विनयः**[1], **कर्मापनयने विनीयते वाऽनेन कर्मेति विनयः**[2] **विशिष्टो नयः विनयः**[3] इत्यादि अनेक व्युत्पत्तियाँ की गई हैं ।

'विनय' शब्द के विविध अर्थ

'विनय' शब्द जैन धर्माचरण की अनुरूपता को अभिव्यक्त करने वाला एक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक वृत्तिवाला और एक विशिष्ट गुण को निरन्तर रूप से निष्पादित करने वाला है । 'विनय' से नम्र आचरण या व्यवहार की शिक्षा दी जाती है । जैनागमों में 'विनय' शब्द अपने आपमें एक बहुत व्यापक अर्थ लिए हुए हैं । इसमें अनेक अर्थ व भावनाएँ समाहित हैं । इसलिए अभिधान राजेन्द्र कोष में विभिन्न अर्थों, व्युत्पत्तियों एवं व्याख्याओं द्वारा इसके विविध गूढ़ार्थों को ध्वनित करने का प्रयास किया गया है ।

शब्द के अनेक अर्थ होते हैं । प्रस्तुत कोष में 'विनय' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ बताए गये हैं । यथा-

'जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को दूर करे, वह विनय है । कहीं पर 'विनय' शब्द का प्रयोग कर्ममल का विनयन करने में समर्थ 'अनुष्ठान-विशेष' अर्थ में किया गया है तो कहीं पर 'नम्रता' के अर्थ में । कहीं पर 'आभ्यन्तर तप' के अर्थ में तो कहीं 'गुरुजनों की आज्ञा' के अर्थ में 'विनय' शब्द का प्रयोग हुआ है । कहीं 'गुरु-सेवा व शुश्रूषा' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है तो कहीं पर 'अभिवन्दनादि' अर्थ में । कहीं पर 'विनय' शब्द का अर्थ

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ 1152
2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ 1152
3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृ 1152

'गुरुप्रतिपत्ति' है । इसीतरह 'उठकर खड़े होना', 'गुरुजनों के पादप्रक्षालन करना' आदि अर्थ में भी 'विनय' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'करयुगल जोड़ना', 'नम्र बनकर रहना', संयम (आत्म-संयम) रखना', 'चारित्र और गुरु-अनुशासन में रहना' आदि अनेकार्थों में 'विनय' शब्द व्यवहृत हुआ है ।[1]

वास्तव में विनय की पृष्ठभूमि बहुत व्यापक है । इसकी सीमा बहुत विस्तृत है तथा इसका अर्थ बहुत गहन है । प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोष में विनय का स्पष्टीकरण निम्नाङ्कित परिभाषाओं से स्पष्ट किया गया है-

'विनय' की विविध परिभाषाएँ

जैन ग्रन्थों में स्थल-स्थल पर विभिन्न अर्थों में इसका प्रसङ्गानुसार निरूपण हुआ है । अतः कोष में विविध प्रकार से 'विनय' की परिभाषाएँ एवं व्याख्याएँ दी गई हैं । इन परिभाषाओं एवं व्याख्याओं पर विचार करना आवश्यक है ।

'विनय' की फलात्मक परिभाषाएँ

'विनय' की व्युत्पत्तिमूलक जो परिभाषा है । वह इसप्रकार है- **कर्मापनयने विनयते वाऽनेन कर्मेति विनयः**[2] जिससे आठ प्रकार का कर्ममल दूर होता है, उसे कहते हैं-विनय ।

एक स्थल पर 'विनय' की फलात्मक परिभाषा करते हुए कहा है-

जम्हा विणयई कम्मं अट्ठविहं चाउरंत मोक्खाय ।
तम्हाउ वयंति विउ विलीण संसारा ॥[3]

'विनय' अष्टकर्मों का विनयन (नाश) करता है । इससे चतुर्गति की समाप्ति रूप मोक्षोपलब्धि होती है । इसीलिये उसे

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ 1152
2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ 1152
3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3, पृ 523

'विनय' कहते है । कर्मों के विनयन (नाश) करने क कारण इसे विनय कहा गया है ।

एक परिभाषा है-

कर्मणां द्राग् विनयनाद् विनयो विदुषां मतः ।
अपवर्गफलाद्यस्य मूलं धर्मतरोरयम् ॥[1]

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का शीघ्र विनाशक होने के कारण वह 'विनय' कहलाता है और वह मुक्ति-फल-प्रदाता धर्म-वृक्ष का मूल है ।

उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं में 'विनय' के फलात्मक पहलुओं पर चिन्तन किया गया है । इन परिभाषाओं में दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्ष परिपुष्ट होते हैं । यहाँ 'विनय' को कर्म-नाशक और मोक्ष-फलप्रदायक कहा गया है ।

विनयति नाशयति सकलक्लेशकारकमष्टप्रकारं कर्म स विनयः[2] कह कर भी एक व्याख्या प्रस्तुत की गई है । क्लेशोत्पादक अष्टकर्म शत्रुओं का जो हनन करता है । उसे विनय कहते हैं ।

देशकालाद्यपेक्षया यथोचित प्रत्तिपत्ति लक्षणे[3]- इसप्रकार की भी एक व्याख्या पायी जाती है । अपने बड़े एवं गुरुजनों को देशकालादि की अपेक्षा से यथोचित (यथायोग्य) सत्कार-सम्मान देना 'विनय' है ।

'गुरुजनों को आते देखकर खड़े होना, अंजलि करना, उन्हें आसन देना, उनकी भक्ति करना और भावपूर्वक उनकी सेवा-

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृ 1152

2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृ 1152

3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृ 1152

शुश्रूषा करने आदि को भी विनय कहा गया है ।[1] नीतिवाक्यामृत में आचार्य सोमदेवसूरि ने कहा है– **व्रतविद्या वयोऽधिकेषु नीचैराचरणं विनयः**[2] व्रत–विद्या एवं उम्र में बड़ों के सामने नम्र आचरण करना विनय है ।

इसप्रकार अभिधान राजेन्द्र कोष में विभिन्न स्थलों पर और भी अनेक परिभाषाएँ–व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं ।

उपर्युक्त विविध परिभाषाओं एवं व्याख्याओं के अध्ययन से निष्कर्षतः यह ज्ञात हो जाता है कि यत्किञ्चित् शाब्दिक भेद होने पर भी सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करने पर इनमें मूलतः कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता ।

विभिन्न अर्थों (रूपों) में विनय का प्रयोग

'विनय' जैनधर्म का पारिभाषिक लाक्षणिक शब्द है । जैनागम साहित्य में 'विनय' शब्द का प्रयोग सहस्रों बार प्रयुक्त हुआ है जिसके विविध अर्थ, स्वरूप, भेद–प्रभेद, उद्देश्य–फल, महत्ता आदि के सन्दर्भ में अभिधान राजेन्द्र कोष में अनेकविध उल्लेख विद्यमान है । प्रस्तुत कोष के आधार पर 'विनय' के स्वरूप को मुख्यतः चार भागों में विभक्त किया जा सकता है ।

1. **नम्रता के अर्थ में**
2. **अनुशासन (हित–शिक्षा) के अर्थ में**
3. **आत्म–दमन के अर्थ में**
4. **शील–सदाचार के अर्थ में**

1. नम्रता के अर्थ में

यहाँ 'विनय' शब्द गुरुजनों के प्रति नम्र व्यवहार करने के अर्थ में प्रयुक्त है । 'विनय' का नम्रतासूचक अर्थ तो प्रसिद्ध ही है।

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ- 1153
2 नीतिवाक्यामृत, 11/6

विनीत व्यक्ति सदेव गुरुजनों के समक्ष नम्र होकर रहता है । उसके प्रत्येक व्यवहार में विवेकपूर्ण नम्रता रहती है । अभिधान राजेन्द्र कोष में नम्रताम्सूचक इस तथ्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है कि गुरुजनों के समक्ष नम्र होकर विनीत भाव से वर्तन करना चाहिए । जैसा कि उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है-

नीयं सिज्जं गइ ठाणं, नीअं च आसणाणि अ ।
नीअं च पाए वंदिज्जा, नीअं कुज्जा अंजलि ॥[1]

शिष्य को अपनी शय्या, गति, स्थान और आसन-ये सब गुरु से नीचे रखना चाहिए । नमन करते समय नम्र होकर एवं करयुगल जोड़कर उनके चरण-स्पर्श या वन्दना करनी चाहिए ।

शिष्य नीची गति रखे अर्थात् गुरु के आगे या सटकर भी न चले । न अतिदूर और न अति निकट ही चले । खड़े रहते समय उनसे नीचे खड़ा रहे । उनसे आगे या पार्श्व भाग में सटकर खड़ा न रहे । बैठते समय उनके आसन से बहुत दूर या बिल्कुल सटकर भी नहीं बैठे । पैर फैलाकर, पैर पर पैर रखकर या बड़प्पन का आसन लगाकर भी न बैठें ।

आचार्यादि गुरुजनों के साथ सटकर न बैठें, आगे न बैठें, पीठ करके न बैठें । उनके घुटने से घुटना जोड़कर न बैठें तथा शय्या (बिस्तर-आसन) पर बैठा हुआ उनकी वाणी न सुने ।[2] कदाचित् असावधानी से उनके चरणादि शारीरिक अवयवों का, उपकरणों का भी स्पर्श हो जाय तो कहना चाहिए- भगवन् ! मुझे क्षमा करें । पुनः कभी ऐसा नहीं होगा ।[3]

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ 1172

2 ण पक्खओ ण पुरओ, णेव किच्चा ण पिट्ठओ ।
न जुजे अरूणा ऊरूँ, सयणे ण पडिस्सुणे ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ 1163

3 सघट्टइत्ता काएण तहा उवहिंणामवि ।
खमेह अवराह मे, वइज्ज न पुणुत्ति अ ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ 1172

तात्पर्य यह है कि विनीत शिष्य के किसी भी व्यवहार या वाणी से अकड़पन या अहंकार नहीं छलकना चाहिए, प्रत्युत विनम्रता ही आभासित होनी चाहिए ।

गुरुजनों के एक बार या बार-बार बुलाने पर विनीत शिष्य अपने आसन पर बैठा न रहे और न आसन पर से ही प्रत्युत्तर दे, बल्कि तत्काल आसन छोड़कर पूछे- गुरुदेव ! क्या आदेश है ? किसलिए मुझे याद करने की कृपा की ?[1] आचार्यादि गुरुजनों द्वारा बुलाए जाने पर कदापि मौन न रहे ।[2] विनय-विनम्रता की महत्ता को उद्घाटित करते हुए यह भी निर्देश दिया गया है कि आसन पर बैठकर गुरु से कभी प्रश्न न पूछे, परन्तु आसन से उठकर उत्कटिकासन मुद्रा में अंजलि-बद्ध होकर प्रश्न (सार्थादि) पूछे ।[3] शिष्य को कितना विनम्र और दक्ष होना चाहिए ? इस भाव को चित्रित करते हुए कहा है-

कालं छंदोवयारं च पडिलेहित्ताणं हेउहिं ।
तेण तेण उवाएण, तं तं संपडिवायए ।[4]

शीतादि काल को देखकर (अर्थात्- यह कौन-सी ऋतु है, रात है या दिन है, कैसी परिस्थिति है गुरुदेव की ? उपयुक्त अवसर है या नहीं, आदि सब जाने) छन्द-गुरु के अभिप्राय को (इच्छा, चेष्टा, इंगित-आकारादि को जाने कि वे इस समय क्या चाहते हैं ? किस कार्य को सम्पन्न करने हेतु इनके हृदय में विचार-तरंगें प्रवाहित हो रही हैं, इत्यादि) सेवा करने के उपचारों (विधियों) को तथा

1 आलवते लवते वा, न निसिज्जाइ पडिस्सुणे ।
मुत्तूण आसण धीरो, सुस्सूसाए पडिस्सुणे ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1163 एव 1172

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1163

3 आसणगओ ण पुच्छिज्जा णेव सिज्जागओ कया ।
आगम्मुक्कुडुओ सतो, पुच्छिज्जा पजलीगडे ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1163

4 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1172

देश-कालादि को (तर्क-वितर्क, ऊहापोह, अनुमान रूप) नानाविध हेतुओं से भलीभाँति जानकर तदनुकूल उपाय से उस-उस योग्य कार्य को सम्पादित करें। इसका आशय यही है कि उनके बिना कहे ही उनकी शारीरिक दशा आदि को जान लें।

इन्हीं भावों को एक रूपक के माध्यम से चित्रित करते हुए आगे और भी कहा है-

आयरिअं अग्गिमिवाहि अग्गी।
सूस्सूसमाणो पडिजागरिज्जा॥
आलोइयं इंगिअमेव नच्चा।
जो छंद माराहयई स पूज्जो॥[1]

जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ जाग्रत (सावधान) रहता है, ठीक वैसे ही आचार्य-गुरु की शुश्रूषा करते हुए शिष्य को जागरूक रहना चाहिए तथा उनके 'आलोकित' एवं 'इंगित' को जानकर उनके अभिप्राय की आराधना करनी चाहिए व उनकी भावनाओं का आदर करना चाहिए।

उपर्युक्त गाथा में यह अभिव्यंजित किया गया है कि विनम्र शिष्य गुरु के अभिप्राय को समझकर तदनुरूप समयोचित कार्य करता है। गुरु के अभिप्राय को समझने के लिए उक्त गाथा में दो शब्द व्यवहृत हुए हैं- 'आलोकित' और 'इंगित'। इसका तात्पर्य यह है कि शिष्य गुरु के आलोकित (निरीक्षण) और इंगित (अंगचेष्टा) से उनका अभिप्राय जाने और तदनुकूल उनकी आराधना करे। निरीक्षण से अभिप्राय जानना- जैसे कि गुरुजन जिस चीज की ओर दृष्टि डाले उसे देखकर शिष्य तुरन्त जान ले कि उन्हें क्या चाहिए? अंगचेष्टा से अभिप्राय जानना - जैसे उन्हें वात पित्त या कफ का प्रकोप बढ़ रहा है तो शिष्य उनकी अंगचेष्टा को जानकर (वात-पित्त या कफनाशक) तदनुकूल पदार्थों का सेवन कराएँ। मतलब यह

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृ 1173

कि शिष्य सदैव गुरु के अभिप्रायानुरूप आचरण करे । अभिप्राय को जानने के अन्य और भी उपाय हितोपदेश में भी निरूपित हैं–

आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च, लक्ष्यते अन्तर्गतं मनः ॥

आकार, संकेत, गति (चाल), चेष्टा, संभाषण, नयन और मुख-मण्डल के विकारों से आन्तरिक मनोभावों को जाना जा सकता है ।

किसी लौकिक प्रयोजन-सिद्धि के लिए नहीं, अपितु आचार-प्राप्ति के लिए गुरु-भक्ति का मान करने और उनके प्रति नम्रता रखने की शिक्षा दी गई है–

आयारमट्ठा विणयं पउंजे ।
सूस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ॥
जहो वइट्ठं अभिक्खमाणो ।
गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥[1]

ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि पंचाचारों की प्राप्ति के लिए विनय (गुरु-भक्ति) करना चाहिए । वह विनीत शिष्य गुरु के वचनामृत को सुनने की आकांक्षा-पिपासा रखे, उनके वचन ग्रहण करे और तदनुरूप आचरण करे । गुर्वाज्ञा-पालन, उनकी सेवा तथा अपने से ज्येष्ठ पुरुषों के प्रति आदर, विनय-विनम्रता रखने का पुनः संकेत देते हुए कहा है–

रायणाहिएसु विणयं पउंजे ।
डहरा अवि अ जे परियाय जिट्ठा॥
नीअत्तणे वट्टइ सच्चवाइ ।
उवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥[2]

अल्पवयस्क होते हुए पर्याय (दीक्षा) में जो ज्येष्ठ हैं उन सब रत्नाधिकों (ज्ञान-दर्शन-चारित्र में बड़े पुरुष) के साथ विनयपूर्वक

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृ 1173
2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृ 1173

व्यवहार करना चाहिए तथा विनम्र और सत्यवादी बनकर गुरु की सेवा में रहते हुए उनके आदेशों का पूर्णतया पालन करना चाहिये ।

इसप्रकार उपर्युक्त पंक्तियों से यह सहज ही ध्वनित होता है कि शिष्य के जीवन के कण-कण में वैसी विनम्रता परिव्याप्त होनी चाहिए जैसे कि मिश्री के कण-कण में माधुर्य होता है । शिष्य समस्त क्रियाओं में गुरुजनों के प्रति विनम्र भाव रखे । साथ ही उसका समूचा आचरण, प्रत्येक क्रिया-कलाप-व्यवहार ऐसा होना चाहिए, जिससे उसके सम्पूर्ण जीवन से शिष्टता, शालीनता, सुशीलता और विनम्रता झलके । शिष्य को सदैव इसीप्रकार का नम्रतापूर्ण व्यवहार करना चाहिये ।

अनुशासन और हित-शिक्षा के अर्थ में

अनुशासनहीन जीवन स्वच्छन्द जीवन है । अनुशासनहीन जीवन निरर्थक है । अतः जीवन का, और विशेषतः साधक-जीवन का समूचा आचार-विचार, व्यवहार-वाणी, संयमित-नियमित व अनुशासित होना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि अनुशासन (हित-शिक्षा) ही हमारे समग्र जीवन-व्यवहार और आचरणों की पृष्ठभूमि है । साधक जीवन का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और महान् से महान् आचरण अनुशासनमूलक होना चाहिए । अनुशासित जीवन कितना सरस, सुन्दर, सुखद और सार्थक होता है । प्रस्तुत कोष में इसकी स्पष्ट झलक मिलती है । अनुशासित शिष्य कहता है-

लज्जा-दया-संजम-बंभचेरं ।
कल्लाण भागिस्स विसोहि ठाणं॥
जे मे गुरु सययमणुसासयंति ।
ते हं गुरु सययं पुअयामि ॥[1]

कल्याणभागी के लिए लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य ये विशोधि (कर्म-मल को दूर करके आत्मा को विशुद्ध बनाने के)

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृ 1170

स्थल हैं । अतः जो गुरु मुझे आत्मविशुद्धि कर इन नैतिक सद्‌गुणों के लिए सतत अनुशासित करते हैं, अनवरत शिक्षा देते हैं, मैं उनकी निरन्तर विनय-भक्ति करता हूँ, पूजा करता हूँ ।

कल्याणभागी साधक के लिए लज्जा, दया, संयमादि विशुद्धि के स्थान इसलिए हैं कि लज्जा अर्थात् अकरणीय[1] या अपवाद[2] का भय रहता है तो मनुष्य पाप-कार्य करने से रुक जाता है । जीवों के प्रति करुणाभाव के कारण भी हिंसादि कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता। संयम से जीव-रक्षा करता है। आत्मभाव में रमणस्वरूप ब्रह्मचर्य से विभाव में प्रवृत्त होने से रुक जाता है ।

उक्त गाथा में इस तथ्य को उद्‌घाटित करने का प्रयास किया गया है कि साधक जीवन में अनुशासन कितना विशिष्टतम स्थान रखता है और वह 'अनुशासन' कल्याणभागी विनम्र शिष्य को कितना प्रिय (मनोज्ञ) होता है । उसकी सतत यही अन्तर्कामना रहती है कि अनुशासन करने वाले इन गुणों की शिक्षा या प्रेरणा देने वाले गुरुओं की मैं सदैव भक्ति करूँ और अनुशास्ता की भावना शिष्य को सतत योग्य बनाने की होती है । अतः 'जहाँ चाह, वहाँ राह' यह कहावत यथार्थ ही चरितार्थ होती है ।

विनीत शिष्य और भी अनेक प्रकारों से पूजा या विनय-भक्ति करता है । जैसे कि **सक्कारए सिरसा पंजलीओ कायग्गिरा भो! मणसा य निच्चं**[3] नमन, पंचाग-प्रणिपात, तन-मन और वाणी- यह पञ्चधा भक्ति शिष्य को सदैव प्रत्येक परिस्थिति में करनी चाहिए ।

प्रथम प्रकार की विनय-भक्ति-**सक्कारए**-सिर झुकाकर नमन करने से होती है । जो अपनी लघुता प्रकट करती है ।

1 अगस्त्यचूर्णि, 208

2 जिनदासगणिकृत चूर्णि, 306

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृ 1169-1170

दूसरी विनय-भक्ति-**सिरसा पंजलीओ**-करयुगल जोड़कर व मस्तक तक ले जाकर गुरुवन्दन करने से होती है ।

तीसरी विनय-भक्ति-**काय**-शरीर द्वारा सेवा-शुश्रूषा करने से होती है । चौथी विनय-भक्ति **गिरा**-'जो वचन से सत्कार करने से होती है और पाँचवीं विनय-भक्ति **मणसा**- अन्तर्हृदय में अटूट श्रद्धा, पूर्ण समर्पण एवं भक्ति-भाव रखना, उन्हें सर्वोपरि मानना तथा अपने व्यवहार से किसी भी तरह उन्हें क्लेश न हो, इस बात का पूर्ण ध्यान रखना आदि अनेकविध यह भक्ति होती है ।

प्रस्तुत कोष में चतुर्धा विनय-समाधि का दिग्दर्शन कराते हुए भी कहा गया है कि 'गुरु द्वारा अनुशासित किया हुआ आत्मार्थी विनीत शिष्य उनके अनुशासन-वचनों को सुनना चाहता है । उनके अनुशासन (शिक्षा) को सम्यक्तया स्वीकार करता है । उस वेद (श्रुतज्ञान) की आराधना करता है अर्थात् उस अनुशासन के अनुकूल आचरण करता है और गर्व से मैं विनय-समाधि में प्रवीण हूँ, इस प्रकार के अभिमान से कदापि उन्मत्त नहीं होता ।[1]

प्रस्तुत कोष में विनय के अनुशासनात्मक स्वरूप का चित्रण करते हुए कहा है -'गुर्वाज्ञा को यथोचित शिरोधार्य करना, उनके निकट रहना, इंगिताकार से उनके मनोभावों को समझना एवं तदनुकूल वर्तन करना अर्थात् उनके हर संकेत व चेष्टा के प्रति सजग रहना[2] यह सब एक प्रकार का अनुशासन है। पुनः-पुनः उन्हें कहने का अवसर नहीं देना, यह भी अनुशासन है । जैसे जातिवान् विनीत

---

1 चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ । त जहा-अणुसासिज्जतो सुस्सूसइ 1 सम्म सपडिवज्जइ 2 वेयमाराहइ 3 न य भवइ अत्तसपग्गहिए 4 चउत्थ पय भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो ॥
पेहेइ हिआणुसासण सुस्सुसई त च पुणो अहिट्ठिए ।
नय माणमएण मज्जइ विणय समाहि आययट्ठिए ॥

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृ 1184-1185

2 आणा निद्देसकरे गुरुणमुववाय कारए ।
इगियागारसम्पन्ने से विणीए त्ति वुच्चई ॥

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृ 1158

घोड़ा चाबुक को देखते ही घुड़सवार की इच्छानुकूल प्रवृत्ति करता है । वैसे ही विनीत शिष्य को भी गुरु के इंगिताकार को समझकर उनके तद्मनोनुकूल प्रवृत्ति करनी चाहिए ।[1] अनुशासन में रहने वाला विनीत शिष्य निश्चित रूप से गुरु के चित्तानुकूल आचरण कर तथा शीघ्र ही उनका कार्य करके उग्र स्वभावी गुरु को भी प्रसन्न कर लेता है ।[2]

गुरुजन तो हितबुद्धि से शिष्य के आत्महितार्थ यथासमय कभी मधुर-वचनों से तो, कभी कठोर वाणी से सद्प्रेरणा-हितशिक्षा का अमृत-पान कराते ही रहते हैं और अनुशासित करते ही रहते हैं । इसलिए अनुशासन के प्रस्तुत पक्ष को उजागर करते हुए कहा है- 'कोमल तथा कठोर शब्द रूपी उपमा से दिया गया गुरुजनों का अनुशासन (हित-शिक्षा), दुष्कृत्यों से बचने के लिए दी गई प्रेरणा बुद्धिमान् विनीत शिष्य सदैव हितकारी मानता है ।'[3]

आज्ञा की आराधना भी एक प्रकार का अनुशासन है और अनुशासन में रहना 'विनय' है। विनीत ही अनुशासन में रह सकता है तथा गुर्वाज्ञा की आराधना कर सकता है ।

सुस्पष्ट है कि जो आज्ञा की आराधना नहीं करता वह अनुशासन का पालन कैसे कर सकता है ? और आज्ञाराधन के बिना तो सब कुछ निरर्थक है । इस सम्बन्ध में स्पष्ट उद्घोष है-

1 *मा गलियस्सेव कस, वयणमिच्छे पुणो पुणो ।*
कस व दट्ठुमाइन्नो, पावग परिवज्जए ॥
—*अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृ 1160*

2 *अणासवाथूलवया कुसीला, मिउ पि चड पकरति सीसा ।*
चित्ताणुया लहु दक्खीववेया, पसायए ते हु दुरासय ॥
—*अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ 1161*

3 *ज मे बुद्धाऽणुसासति, सीएण फरुसेणवा ।*
मम लाभुत्ति पेहाए, पयओय (त) पडिस्सुणे ॥
अणुसासणमोवाय, दुक्कडस्स य परेण ।
हिय त मन्नए पन्नो, वेस्स भवइऽसाहुणो ।
हिय विगयभया बुद्धा फरुसपिणुसासण,
वेस्स त होइ मूढाण, खति सुद्धिकर पय ॥
—*अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6, पृष्ठ-1164*

आणाखण्डण करीय, सव्वंपि निरत्थयं तस्स ।
आणा रहिओ धम्मो, पलालपुलूव्व पडिहाई ॥[1]

जो आज्ञा का खण्डन करता है उसका सब कुछ निरर्थक हो जाता है । आज्ञारहित धर्म तो बिना कणवाले घास के पुले के जैसा है। अतः **आणा नो खण्डेज्जा, आणाभंगे कओ ? सुहो**[2] आज्ञा का उल्लघंन या खण्डन नहीं करना चाहिए । आज्ञा का खण्डन करने पर सुख कैसे ? मात्र इतना ही नहीं, प्रत्युत गुरु-आज्ञा-भंग को सारे अनर्थों की जड़ बताया गया है ।[3] तात्पर्य यह है कि सारे अनर्थों की जड़ आज्ञा-खण्डन में सन्निहित है ।

कठोर या मधुर हित-शिक्षा यह भी अनुशासन है । गुरुजन जब उसे शिक्षा दे, तब शिष्य यह सोचे कि उनकी आज्ञा की अवज्ञा करना और अनुशासन पर क्रुद्ध होना मेरा कर्त्तव्य नहीं है । इस बात को प्रस्तुत करते हुए कहा है- 'सात भयों से मुक्त तत्त्वज्ञानी बुद्धिमान् शिष्य क्षमा और शुद्धि करने वाले ज्ञानादि गुणों के स्थानरूप **फरूसंपि अणुसासणं**[4] अनुशासन चाहे कठोर ही क्यों न हो, उसे हितकर माने तथा उनके द्वारा अनुशासित किए जाने पर भी रूष्ट न हो ।

आत्महित के कार्य में यदि कभी गुरुजन कठोर आदेश भी दे दें, किन्तु **अणुसासिओ न कुप्पेज्जा, खंति सेविज्ज पंडिए ।**[5] गुरुजनों के कठोर अनुशासन से भी प्राज्ञ विनीत शिष्य को कभी क्षुब्ध नहीं होना चाहिए । प्रत्युत उसे हितप्रद मानकर सहनशीलता-क्षमा की आराधना करनी चाहिए । इसके अतिरिक्त उसे हित शिक्षा देते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है- अनुशासन में रहते हुए

1 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृ 141*

2 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-2, पृ 141, 138*

3 *गुरु आण भगम्मि सव्वे णत्था जओ भणित'*
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3, पृ 944

4 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ-1164*

5 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृ-1160*

दुःशील और क्षुद्र आचरण वाले व्यक्तियों के साथ सम्पर्क नहीं रखना चाहिए एवं हास्य और क्रीड़ा का सर्वथा त्याग कर देना उचित है ।[1]

विविध उपायों से विनय-विवेक के लिए जो प्रेरणा देता है, अनुशासित करता है, उस पर कोप करना मानो आती हुई दिव्य लक्ष्मी को लाठी का प्रहार कर रोकना है ।[2]

गुरुजनों के अनुशासित करने पर शिष्य सदा यही सोचे कि गुरु मधुर-कठोर वचनों से जो अनुशासित कर रहे हैं एवं शिक्षा दे रहे हैं, वह मेरे हित के लिए ही है । अतः मुझे उन हित-शिक्षाओं को ध्यानपूर्वक एवं सावधानी के साथ सुनना चाहिए । ऐसा सोचकर वह विनीत शिष्य सजग होकर उस गुरु-शिक्षा को प्रयत्नपूर्वक सुने और ग्रहण करे ।[3] वह विनीत शिष्य गुरु द्वारा प्रदत्त शिक्षा या अनुशासन को (अपने जीवन के लिए) हितकारी व कल्याणकारी माने ।[4] तात्पर्य यह है कि सुविनीत शिष्य शिक्षा-काल में कठोर अनुशासन को भी प्रसन्नता से सहन करे । इतना ही नहीं, प्रत्युत वह विनीत शिष्य बिना बुलाए बीच में कभी कुछ न बोले, बुलाने पर मिथ्या भाषण न करे । यदि कभी क्रोध आ भी जाय तो उसका अशुभ-फल समझ कर उसे विफल बना दे तथा अप्रिय लगने वाले उनके कठोर वचनों पर भी क्रुद्ध न हो । उन्हें हितकारी मानकर प्रिय समझे और धारण करे ।[5] अन्त में अनुशासनात्मक पहलू को उजागर करते हुए सुन्दर बात कही गई है-

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ-1160

2 विणय पि जो उवाएण, चोइओ कुप्पई नरो ।
दिव्व सो सिरिमिज्जति, दडेण पडिसेहए ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ-1171

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ-1164

4 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ-1165

5 णाऽ पुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नाऽलिय वए ।
कोह असच्च कुव्विज्जा, धारिज्जा पियमप्पिय ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ-1161

रमिए पंडिए सासं हयं भद्दं व वाहए ।
बालं सम्मइ सासंतो गलिअस्सं व वाहए ॥[1]

विनीत शिष्यों को अनुशासित करते हुए ज्ञानी गुरुजन उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं; जैसे अच्छे घोड़े को शासित करता हुआ घुड़सवार ।

इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि साधक जीवन में अनुशासन का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

शील सदाचार के अर्थ में

वस्तुतः शील-सदाचार की प्रतिभा से प्रोज्ज्वल पुरुष रात में प्रज्ज्वलित अग्नि की भाँति प्रकाशमान होता है । इसीलिए जैन वाङ्मय का स्पष्ट उद्घोष है कि **आयारो पढमो धम्मो** आचार ही प्रथम धर्म है । इस एक उक्ति में ही जीवन का सम्पूर्ण सार समाहित है । यही आचार-सम्पदा हमारे जीवन की सर्वश्रेष्ठ और ज्येष्ठ सम्पदा है । सदाचार अनुपम बल है, सर्वोत्तम शस्त्र है, श्रेष्ठ आभूषण है और रक्षा करने वाला अद्भुत कवच है ।

तात्पर्य यह है कि लोक में शील-सदाचार ही श्रेष्ठ है और उसी से वास्तविक विजय होती है । इसके विपरीत दुःशील-दुराचार जीवन नाशक है। दुःशील आचरण करने वाले शिष्य सौम्य स्वभावी गुरुजनों को भी क्रुद्ध बना देते हैं । जैसा कि कहा है- **कुसीला मिउंपि चंडं पकरंति सीसा** [2]

अतः अभिधान राजेन्द्र कोष में उसके दुष्परिणामों को बहुत ही हृदयस्पर्शी शब्दों में इसतरह प्रस्तुत किया है-जैसे बिन्दु में सिन्धु । इसके अतिरिक्त वहाँ विनय के माध्यम से शील-सदाचार की समुचित शिक्षा भी दी गई है । दुःशील के दुष्परिणामों को

1 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ-1165*
2 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6, पृ-1161*

स्पष्ट करते हुए लिखा है–'पशुवत् जीवन बिताने वाला अज्ञानी शील–सदाचार को तिलांजलि देकर दुःशील को पसन्द करता है । जैसे कि शूकर चावलों का स्वादिष्ट भोजन छोड़कर विष्ठा खाता है ।[1] यह भी कहा है कि दुःशील, उद्दण्ड, मुखर (वाचाल) असदाचारी और गुरुजनों के विपरीत वर्तन करने वाला व्यक्ति भी सड़े कानवाली कुतिया की भाँति जहाँ भी जाता है धक्के देकर निकाल दिया जाता है, सर्वत्र अपमानित होता है और दर–दर की ठोकरें खाता है ।[2] इसलिए सड़े कान वाली कुतिया और शूकर के दृष्टान्त का श्रवण कर इहलौकिक–पारलौकिक आत्म–हितैषी साधक अपने आपको विनय–सदाचार में स्थिर करें ।[3] इसी सन्दर्भ में बुद्ध भी कहते हैं– 'कल्याण चाहने वाला भिक्षु चमत्कार से बचकर सदाचार का अभ्यास करे ।' क्योंकि धम्मपद में कहा है– **सील सुगन्धो अणुत्तरो**[4] शील–सदाचार की सुगन्ध सर्वश्रेष्ठ सुगन्ध है । अतः अभिधान राजेन्द्र कोष में शील–सदाचार को जीवन में आत्मसात् करते हुए विनय की उपासना करने की बात कही गई है–

तम्हा विणयमेसिज्जा सीलपडिलभेज्जओ ।
बुद्धउत्ते णियागट्ठी, ण धिक्कसिज्जइ कण्हुइ ॥[5]

अविनय के दोषों को जानकर मोक्षाभिलाषी प्रिय शिष्य को सदैव विनय की आराधना करनी चाहिए । उसका अन्वेषण करना चाहिए, जिससे कि उसे शील–सदाचार की समुपलब्धि हो । ऐसा

1 *कणकुडग जहित्ताण, विट्ठ भुजइ सुयरो ।*
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1159

2 *जहा सुणी पुइकण्णी, णिक्कसिज्जइ सव्वसो ।*
एव दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1158

3 *सुणिया भाव साणस्स, सूयरस्स नरस्सय ।*
विणए हविज्ज अप्पाण, इच्छतो हियमप्पणो ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1159

4 *धम्मपद, 4/12*

5 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1159*

सदाचार सम्पन्न विनीत शिष्य कहीं से भी नहीं निकाला जाता है, न कहीं प्रताड़ित होता है और न कहीं भी अपमानित होता है। इसके अतिरिक्त उसे निंदादि का भी भय नहीं रहता जैसा कि सूर्य को अन्धकार का भय नहीं रहता । इसीलिए उसे शिक्षा देते हुए कहा है कि साधक को अपने शील-सदाचार की अविच्छिन्न रूप से रक्षा करते हुए उसके प्रति सदा गौरव की भावना रहनी चाहिए । जैसे टिटहरी अपने अण्डे की, चमरी अपनी पूँछ की, माता अपने इकलौते प्रिय पुत्र की, काना अपनी अकेली आँख की सावधानीपूर्वक रक्षा करता है ।

आत्मदमन (संयम) के अर्थ में

मनोनिग्रह-इन्द्रियनिग्रह और आत्म-संयम करने से ही मन पवित्र, निर्मल और स्वच्छ रहता है । इसलिए आत्मानुशासन या आत्म-संयम की शिक्षा भी एक तरह से विनय की ही शिक्षा है । आत्मानुशासक ही **विणओ जिणसासणे मूलं**[1] की आराधना-साधना कर सकता है और **विणीओ संजओ भवे**[2] विनीतात्मा ही संयमी हो सकता है, आत्मदमन कर सकता है और गुरुजनों के अनुशासन को भी वही मान सकता है, क्योंकि उसके मन में उनके प्रति अनन्त-अनन्त आस्था विद्यमान होती है ।

वास्तव में निज पर शासन करने वाला ही जिनशासन का सच्चा आराधक बन सकता है और सच्चा जिनशासन-आराधक ही निज पर कठोर शासन रख सकता है । बिना कठोर संकल्प के आत्मसंयम संभव नहीं है-

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ।
चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।
तं तारिसं न पइसंजित इंदिआ ।
उवितं वाया व सुदंसणं गिरि ।[3]

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-523
2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-523
3 दश चूलिका-1 गा-17

अर्थात् 'जिस आत्मा का ऐसा सुदृढ़ निश्चय हो कि चाहे देह छूट जाय परन्तु धर्मशासन (धर्माज्ञा) का उल्लंघन या परित्याग नहीं करूँगा उसे इन्द्रियाँ संयम से ठीक वैसे ही किंचित् भी विचलित नही कर सकतीं, जैसे सुमेरूगिरि को तूफान-आँधी अस्थिर नहीं कर पाती । आत्म-संयम के बिना विनयगुण की आराधना हो ही नहीं सकती है । गुरुजनों के अनुशासन में तब ही रहा जा सकता है, जब पहले आत्मसंयम या आत्मानुशासन हो और साथ ही मनोनुशासन भी हो, क्योंकि कभी-कभी अपने मन के विपरीत अपनी इच्छा या रूचि के प्रतिकूल गुरुजन द्वारा कही गई बात शिरोधार्य करने में बड़ी कठिनाई होती है; परन्तु जो आत्मसंयमी होता है, जिसने अपने मन पर शासन करना सीख लिया है, उसके लिए कुछ भी कठिन नहीं होता । आत्मसंयम की शिक्षा देते हुए कहा है-

अप्पा चेव दमयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होई, अस्सिं लोए परत्थ य ॥[1]

आत्मा अर्थात् अपने आप पर ही नियन्त्रण रखना चाहिये, क्योंकि अपने आप पर नियन्त्रण रखना ही वस्तुतः अति कठिन है। जो आत्मसंयमी है वही उभयलोक में सुखी होता है । आगे और भी सुन्दर कहा है-

वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य ।
मा हं परेहिं दम्मंतो बन्धगेहिं वहेहिं य ॥[2]

दूसरे लोग वध और बन्धन आदि से मुझे नियन्त्रित रखे अर्थात् पराधीन होकर मुझे अन्य के वध-बन्धन में रहना पड़े । इसकी अपेक्षा तो यही अच्छा है कि मैं स्वयं ही अपने विवेक से, अपनी इच्छा से तप और संयम द्वारा अपना (अपनी इच्छाओं का) दमन कर लूँ और अपने आप पर नियन्त्रण करता रहूँ ।

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1162
2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1162

नम्रता, आत्मानुशासन, शील-सदाचार, गुर्वाज्ञा, मोक्ष-प्राप्ति आदि के रूप में विनय की उपर्युक्त परिभाषाएँ एवं व्याख्याएँ उसके आध्यात्मिक-व्यावहारिक और धार्मिक पहलूओं को उजागर करती हैं ।

इसप्रकार विनय के विभिन्न अर्थों के स्वरूप का विचार करने से विदित होता है कि नम्रता, अनुशासन, शील-सदाचार, आत्म-संयम आदि ये सब विनय के ही परिवार हैं । इसीतरह भक्ति-बहुमान और वर्णवाद ये तीनों शब्द भी विनय के अर्थ में व्यवहृत हैं । हाथ जोड़ना आदि बाह्याचार को भक्ति कहते हैं । हृदय में प्रीति रखना बहुमान है और गुणगान-प्रशंसा करना वर्णवाद कहलाता है । इस तरह विनय के द्वारा इन सबको जीवन में अपनाने की पावन प्रेरणा दी गई है ।

इसप्रकार गुरु-शिष्य का सम्बन्ध-दरार या करार का उसूल नहीं है । वहाँ न तो भेदता होती है और न उभयता । न खिन्नता होती है और न दीनता । न विषमता होती है और न अविश्वसनीयता। वहाँ तो एकमात्र बहती है विनय की अखण्ड-अजस्र एकरूप रस-धारा जिसमें शिष्य आकण्ठ अवगाहित होकर मनोऽभीप्सित पा लेता है ।

विनय का वर्गीकरण

जैन वाङ्मय में विनय का इतना विशद और बहुविध निरूपण उपलब्ध होता है कि उसके समग्र रूप को किसी एक परिभाषा, एक व्याख्या और एक अर्थ में बाँध पाना ठीक वैसा ही एक बाल प्रयास है, जैसे आकाश की असीमता को भुजा फैलाकर बता पाना। साधना और व्यवहार के समूचे क्षेत्र को विनय से आप्लावित करते हुए निम्नाङ्कित रूप में विनय का वर्गीकरण किया गया है।

ज्ञानादि के भेद से विनय के सात प्रकार

ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, मनविनय, वचनविनय, कायविनय और लोकोपचार विनय। विनय के ये सात प्रकार बताए गए हैं।[1] इन सातों के भी अवान्तर भेद हैं।

गुरु के प्रति आदर, सत्कार-सम्मान-बहुमान, सेवा-शुश्रूषा करना, उनके आने पर खड़े होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, भक्ति करना, अनुशासन में रहना, आज्ञा-पालन करना और उनके प्रति त्रियोग से नम्र व अनुद्धत रहना विनय है,[2] परन्तु विनय मात्र इतनी-सी परिधि में सीमित नहीं है; प्रत्युत इससे भी आगे ज्ञान-दर्शन-चारित्र को भी विनय कहा गया है, क्योंकि इससे कर्म-पुद्गलों का विनाश होता है। 'विनय' का अर्थ यदि भक्ति-बहुमान करें तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि के प्रति भक्ति और बहुमान प्रदर्शित करना है। विनय के इन सब प्रकारों में ज्ञानादि पंचाचार की प्रधानता है।

1 सत्ताविहे विणए पन्नते त जहा- नाणविणए, दसण विणए, चारित्त विणए, मणविणए, वइविणए काय विणए लोगोवयारविणए।

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1153

2 उत्तराध्ययन 30/32

ज्ञान-विनय

विनय का प्रथम प्रकार है ज्ञान विनय । ज्ञान-विनय का अर्थ है ज्ञान तथा ज्ञानधारक ज्ञानी पर पूर्ण श्रद्धा रखना । उनके प्रति भक्ति और बहुमान रखना, उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तु तत्त्वों पर चिन्तन-मनन-अनुशीलन करना, विधिपूर्वक ज्ञान ग्रहण करना, अध्ययन करना आदि सब ज्ञान-विनय कहलाता है अथवा यह कहें कि पूर्ण श्रद्धापूर्वक ज्ञानी की आज्ञाओं का पूर्णतया पालन करना और उनकी शरण स्वीकार करना भी ज्ञान-विनय है । सर्व समर्पित भाव से ज्ञानी की शरण स्वीकार करने वाला भी कल्याण-पथ पर अग्रसर होता है । ज्ञानी के ज्ञान के आधार पर ज्ञानी पर श्रद्धा रखी जाती है । जैसा डॉक्टर के विषय में लोग कहते हैं कि रोग के विषय में कुशल विशेषज्ञ डॉक्टर के हाथ से मरना भी बेहतर है, परन्तु अनगढ़ ऊँट वैद्य के हाथ से अमृत पीना भी अच्छा नहीं है, उसीप्रकार ज्ञानी गीतार्थ के हाथ से हलाहल जहर पीना भी अच्छा है, किन्तु अज्ञानी के हाथ से अमृत पीना व्यर्थ है । ज्ञान और ज्ञानी मूलतः एक ही हैं । ज्ञानी से यहाँ पाँचों ही ज्ञानधारक समझना चाहिये । उनका समादर-सत्कार-सम्मान होना अत्यावश्यक है ।

प्रस्तुत कोष में ज्ञान की गरिमा पर बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला गया है और यह भी स्पष्ट किया गया है कि जिन परमोपकारी ज्ञानी गुरुओं से कल्याणकारी शिक्षण लिया है उनका सर्व प्रकार से विनय करना चाहिए । प्रस्तुत कोष में गुरु के प्रति शिष्य को अपने कर्तव्य का निर्देश देते हुए कहा है-

जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ कायग्गिरा भो ! मणसा अ निच्चं॥[1]

शिष्य जिस ज्ञानी गुरु से आत्मगुणविकासी धर्म (सिद्धान्त)

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1169

वाक्यों की शिक्षा लें, उनकी पूर्णरूप से विनय-भक्ति करे । ज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए शिष्य को भी ज्ञानियों का तथा अपने गुरुजनों का हाथ जोड़कर सिरसे नमन तथा तन-मन और वचन से सदैव उनका सत्कार-सम्मान करना चाहिए । जैसे- 'सदैव अग्निदेवता की ज्योति प्रज्ज्वलित करने वाला अग्निहोत्री ब्राह्मण मधु-घृतादि विविध प्रकार की आहुतियों और मन्त्रपदों से अग्नि का अभिषेक करता है और अभिषिक्त की हुई अग्नि की पूजा करता है, ठीक वैसे ही शिष्य भले ही अनन्तज्ञान-सम्पन्न क्यों न हो, फिर भी आचार्य (गुरु) की सविनय-उपासना-सेवा-भक्ति करें । विविध प्रकार से उनकी स्तुति-वन्दन-अभिवन्दन करें ।[1]

यह नितान्त सत्य है कि जिस देश, समाज, संघ, गण और सम्प्रदाय में ज्ञानी जनों की, विद्वानों की कद्र होगी, पूजा होगी एवं उनका समादर-सम्मान होगा, निश्चित रूप से वह संघ, समाज, देश तथा सम्प्रदाय उत्तरोत्तर हमेशा उन्नति की ओर अग्रसर होता रहेगा; क्योंकि ज्ञानी ही सच्चे निर्देशक हैं, दिशासूचक और तारक हैं तथा वे ही देश, संघ व समाज के गौरव हैं । कहते हैं यूनानी दार्शनिक अरस्तु इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थक था कि समाज और राष्ट्र का नेतृत्व ज्ञानीजनों के हाथ में रहना चाहिए । उसका यह कथन आज भी उतना ही तथ्यात्मक व प्रसिद्ध है कि 'शासक को दार्शनिक-विद्वान् होना चाहिए और विद्वान् दार्शनिक को ही शासन-सूत्र सम्भालना चाहिए ।' यह सत्य है कि ज्ञानियों का, विद्वानों का आदर-सम्मान व विनय होने से ज्ञान का समादर - सम्मान होता है । संघ और समाज में ज्ञान की गरिमा बढ़ती है ।

1 *जहाहियग्गी जलण नमसे नाणाहुइमतपयाभिसित्त ।*
एवा यरिय उवचिट्ठएज्जा, अणत नाणो विगओ विसतो ॥

-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1169

प्रस्तुत कोष में ज्ञानी की अपेक्षा से ज्ञान-विनय के पाँच भेद किए गए हैं- मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी का विनय ।[1]

दर्शन-विनय

विनय के सात-प्रकारों में से दर्शन-विनय दूसरा विनय है । दर्शन-विनय में साधक सम्यक्दृष्टि के प्रति विश्वास तथा आदर-भाव प्रकट करता है । स्तुति आदि द्वारा सम्यक्दृष्टि गुरुजनों का सत्कार सम्मान करता है । इनकी ज्येष्ठता-श्रेष्ठता और पद-प्रतिष्ठा का सम्मान करते हुए सम्मानजनक व्यवहार करता है। दर्शन-विनय एक प्रकार से शिष्टता व सद्व्यवहार की कुंजी है ।

इसके भी दो भेद हैं-शुश्रूषा-विनय और अनाशातना-विनय।[2] शुश्रूषा-विनय के अनेक भेद बताए हैं और अनाशातना विनय के 45 और 52 भेद हैं ।

शुश्रूषा-विनय का स्वरूप

दर्शन-विनय के अन्तर्गत शुश्रूषा-विनय का स्वरूप अनेक प्रकार से बताया गया है । यथा-गुरुजनों के आने पर खड़े हो जाना, आसन-वस्त्र-पात्रादि वस्तुओं से उनका सम्मान करना, पधारिए ! आसन अलंकृत कीजिए, इसप्रकार निवेदन करना, बैठने के लिए आसन देना, वन्दन करना । उनके सामने नम्रतापूर्वक अञ्जलिबद्ध होकर बैठना । बैठे हो तब तक उपासना करना । उनके शुभागमन की सूचना मिलने पर उनके सामने जाना । प्रस्थान

---

1 से कि त णाणविणए ? णाणविणए पचविहे पणत्ते
त जहा- आभिणिबोहिय णाणविणए, सुअणाणविणए
ओहिणाणविणए मणपज्जवणाणविणए केवल णाणविणए ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1153

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1153

करने पर कुछ दूर उनके साथ पहुँचाने जाना । यह सब शुश्रूषा-विनय है ।[1]

अनाशातना विनय

अनाशातना विनय का अर्थ है कि अपने गुरुजनों के सम्मान में ठेस पहुँचे, उनकी पद-प्रतिष्ठा पर धक्का पहुँचे, ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना और न उनकी अवज्ञा-अपमान या आशातना हो ऐसा कोई अनुचित-असद्व्यवहार करना । यह अनाशातना विनय पैंतालिस प्रकार का है । वह निम्न प्रकार से हैं- अरिहन्त, अरिहंत प्ररूपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, क्रियावन्त, सम्भोगी (सम आचार वाले श्रमण) मति, श्रुतादि पाँच ज्ञानधारक- इन पन्द्रह की आशातना नहीं करना, अपितु इनकी भक्ति-बहुमान करना और गुणगान करना । इसतरह इन तीन भेदों के कारण अनाशातना-विनय के पैंतालिस भेद प्रतिपादित हैं ।[2]

प्रकारान्तर भेद से अनाशातना-विनय के बावन प्रकार भी निम्नांकित बताए गए हैं । जैसे- तीर्थङ्कर, सिद्ध, कुल-गण-संघ, क्रिया-धर्म, ज्ञान, ज्ञानी, आचार्य, स्थविर, उपाध्याय और गणी ।

1 *से कि त दसणविणए ? दसणविणए दुविहे पणते,*
त जहा- सुस्सूसणाविण्ए अणच्चासायणा विणए ।
से कि त सुस्सूसणाविणए ? सुस्सूसणाविणए अणेगविहे
पणत्ते, त जहा-अब्भुट्ठाणेइ वा आसणाभिग्गहेइ वा
आसणप्पदाणेति वा सक्कारेइ वा समाणेइ वा
कितिकम्मेइ वा अजलिपग्गहेइ वा एयस्स अणुगच्छणया
ठिअस्स पज्जुवासणया गच्छतस्स पडिससाहणया से त सुस्सूसणा विणए ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1153

2 *अणच्चासायणा विणए पणयालीसविहे पणत्ते । त जहा- अरहताण अणच्चासायणया*
अरहतपणत्तस्स धमस्स अणच्चासायणया आयरियाण अणच्चासायणया
उवज्झायाण अणच्चासायणया थेराण अणच्चायणया कुलस्स अणच्चासायणया
गणस्स अणच्चासायणया सघस्स अणच्चासायणया किरियाए अणच्चासायणया
सभोगस्स अणच्चासायणया आभिणिबोहियणाणस्स
अणच्चासायणया जाव केवलणाणस्स अणच्चासायणया
एएसि चेव भत्ति बहुमाणे ण एएसि चेव वण सजलणया
सेत्त अणच्चासायणया विणए, सेत्त दसणविणए ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1 पृष्ठ-283

इन तेरह पुरुषों की आशातना नहीं करना; अपितु भक्ति करना, बहुमान करना अर्थात् उनके प्रति पूज्यभाव रखना और वर्णसंज्वलनता (उनके गुणों की प्रशंसा) करना । इसप्रकार चार तरह से इन तेरह का विनय किया जाता है । इन चार भेदों के कारण विनय के बावन भेद भी होते हैं ।[1]

श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी भी 'जिनेन्द्र-पूजा संग्रह' में लिखते हैं-

तित्थयरादि तेरस विनयना, चउगुण होय बावन रे।
बावन भेद सिद्धान्ते गाया, भवि भाव धरीने ॥[2]

चारित्र विनय

तीसरा है चारित्र-विनय । इसके पाँच भेद हैं-सामायिक छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात चारित्र।[3] सामायिकादि पाँच चारित्र और चारित्र सम्पन्न आत्माओं के प्रति श्रद्धा रखना व उनका विनय करना चारित्र-विनय है । भव्य प्राणियों के सामने उनकी चर्चा-परिचर्चा करना, गुणगान करना भी चारित्र-विनय के अन्तर्गत आता है । तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को ज्ञान-सम्पन्न, श्रद्धा-सम्पन्न और चारित्र-समृद्ध पुरुषों की सेवा-भक्ति बहुमानादि करने की सुशिक्षा दी गई है, जिससे उसका जीवन भी तदनुरूप गुण-सम्पन्न बन सके ।

मन-विनय

मन-विनय से यहाँ अभिप्राय यह है कि गुरुजनों का मन से विनय करना, मन पर संयम रखना, मन-विनय कहलाता है ।

1 एसो भे परिकहिओ विणओ पडिरूवलक्खणो तिविहो बावन्नविहिविहाण
बेति अणासायणा विणय ।
तित्थयर सिद्धकुलगण सघ कियाधम्मनाणनाणीण आयरियथेरओज्झा गणीण तेरस पयाणि ।
अणासायणा य भत्ती बहुमाणे तह य वन्नसजलणा तित्थगराई तेरस चउग्गुणा होति बावन्ना।
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1153 एव 1175

2 जिनेन्द्र पूजा सग्रह श्रीविशतिस्थानक पद पूजा मे विनय पूजा

3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-3 पृष्ठ-1175

अशुभ-विचारों को रोककर शुभ-प्रवृत्ति मे लगाना भी मन-विनय है। इसके दो भेद हैं-प्रशास्तमन-विनय और अप्रशास्तमन-विनय । मन को शुभभावों से सुवासित करना प्रशस्तमन-विनय है और इसके विपरीत आचरण करना अप्रशास्तमन-विनय है । इनके भी प्रत्येक के बारह-बारह भेद हैं ।[1]

वचन-विनय

वाणी को संयत रखना, उस पर अनुशासन रखना, वचन-विनय है, अर्थात् हित-मित, मृदु और विचारपूर्वक बोलना वाणी का विनय कहलाता है । वचन-विनय भी दो प्रकार का है- प्रशास्तवचन-विनय और अप्रशास्तवचन-विनय । वचन की शुभप्रवृत्ति को अर्थात् कर्कश, सावद्य, छेदकारी, भेदकारी आदि भाषा का उपयोग न करने तथा हित-मित, सौम्य, सुन्दर, सत्य बोलने, वाणी से अन्य का सम्मान करने को प्रशास्तवचन विनय कहते हैं और तत्प्रतिकूल आचरण करना अप्रशास्तवचन-विनय कहलाता है । इनके भी मनविनय की तरह प्रत्येक के बारह-बारह भेद होते हैं और सात-सात भी ।[2]

काय विनय-

काया अर्थात् शरीर । काय-विनय का सीधा सम्बन्ध शरीर से है । इसलिए शरीर से सम्बन्धित होने वाली समूची प्रवृत्तियों को

1 से कि त मणविणए ? मणविणए दुविहे पणत्ते, त जहा- पसत्थमणविणए, अपसत्थमणविणए । से कि त अपसत्थमणविणए । जे अ मणे सावज्जे सकिरिए सकक्कसे कटुए निट्ठुरे फरूसे अण्हयकरे छेयकरे भेयकरे परितावणकरे उद्दवणकरे भूओवघाइए तहप्पागारमणो णो पहारेज्ज । से त अपसत्थमणोविणए से कि त पसत्थमणोविणए ? पसत्थमणोविणए त चेव पसत्थ णेअव्व । एव चेव वइविणओ वि एतेहि पदेहि चेव णेअव्वो । से त वइविणए ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1154

2 से कि त वइविणए । वइविणए दुविहे पणत्ते तजहा- पसत्थवइविणए अप्पसत्थवइविणए य । पसत्थवइविणए सत्तविहे पणत्ते त जहा- अपावए, जाव अभूताभिसकणे । से त्त पसत्थवइविणए । अपसत्थ वइविणए सत्तविहेपणत्ते । त जहा- पावएसावज्जे जावभूताभिसकणे । से त्त पसत्थवइविणए । हियमिय अफरूसवाई अणुवीईभासिवाइओ विणओ

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1154

काय-विनय के अन्तर्गत समाहित किया गया है । काय-विनय में विवेक की प्रमुखता बतलायी गई है । उठना-बैठना, चलना-फिरना, शयन करना आदि प्रत्येक प्रवृत्ति उपयोग (विवेक) पूर्वक करना काय-विनय है । प्रशास्त काय-विनय और अप्रशास्तकाय-विनय के रूप में काय-विनय के दो भेद हैं । इन दोनों के क्रमशः सात-सात भेद बताए गए हैं । शरीर से गुरुजनों की भक्ति करने और विवेकपूर्वक की गई शारीरिक समूची प्रवृत्तियों को प्रशास्तकाय-विनय कहते हैं। वह सात प्रकार का है-

1. विवेकपूर्वक चलना-फिरना अर्थात् गमनागमन करना ।
2. विवेकपूर्वक ठहरना ।
3. विवेकपूर्वक बैठना ।
4. विवेकपूर्वक-विश्राम करना (सोना) ।
5. विवेकपूर्वक-देहलीज आदि उल्लंघन करना ।
6. विवेकपूर्वक इधर-उधर लांघना ।
7. विवेकपूर्वक-सभी इन्द्रियों तथा योगों की प्रवृत्ति करना।

शरीर के अविवेक-अशिष्टतापूर्वक अशुभ कार्यों में प्रवृत्त करना अप्रशास्तकाय-विनय है । अविवेकपूर्वक गमनागमन, शयनादि इसके सात प्रकार हैं ।[1]

लोकोपचार विनय

विनय का सातवाँ भेद है-लोकोपचार विनय । अन्य को सुख प्राप्त हो, प्रिय लगे, इस तरह के बाह्य आचरण करना लोकोपचार विनय है अथवा लोक व्यवहार की कुशलता जिस विनय से सहज

1 से कि त कायविणए ? कायविणए दुविहे पणत्ते त जहा- पसत्थकायविणए अपसत्थकायविणए । से कि त अपसत्थकायविणए ? अपसत्थकायविणए सत्तविहे पण्णत्ते । त जहा- अणाउत्त गमणे अणाउत्त ठाणे अणाउत्त निसीदणे अणाउत्त तुअट्टणे अणाउत्त उल्लघणे अणाउत्त पल्लघणे अणाउत्त सव्विदियकायजोग जुजणया । से त्त अपसत्थकायविणए । से कि त पसत्थकायविणए? पसत्थकायविणए एव चेव पसत्थ भाणियव्व । से त पसत्थ कायविणए ।
आउत्त गमण आउत्त ठाणे आउत्त निसीदण आउत्त तुअट्टणे आउत्त उल्लघणे आउत्त पल्लघणे आउत्त सव्विदिय कायजोग जुजणया से त्त पसत्थकायविणए ।

—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1154

रूप से उपलब्ध होती है, वह लोकोपचार विनय कहलाता है । इसे लोकव्यवहार भी कह सकते हैं । इसके सात भेद हैं । प्रस्तुत सात भेदों में लोकप्रियता की कला बतलाई गई हैं ।

इस विश्व-प्रांगण में जिसने भी लोकप्रियता पायी है, लोकप्रिय राजनेता बने हैं, उन सबका ध्यान निम्नांकित सात बातों पर अधिक रहा है । यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि ये सभी एक प्रकार से लोकप्रियता के अचूक नुस्खे हैं, किन्तु इतना लक्ष्य अवश्य रहना चाहिये कि लोकप्रियता के नाम पर 'गंगा गए गंगादास, जमना गए जमनादास' वाली उक्ति चरितार्थ न हो ।

लोकोपचार-विनय के सात अवान्तर भेद

अभिधान राजेन्द्र कोष में लोकोपचार के सात प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है । वे इसप्रकार हैं-

1. अभ्यासवृत्तिता 2. परच्छंदानुवर्तिता 3. कार्य हेतु 4. कृत प्रतिक्रिया 5. आर्त या आत्मगवेषणा 6. देशकालानुज्ञता और 7. सर्वत्र अप्रतिलोमता ।

1. अभ्यासवृत्तिता

सामान्यतः अभ्यास का अर्थ होता है प्रयास करना, किन्तु यहाँ इसका यह अर्थ अभीष्ट नहीं है । यहाँ इसका अभिप्राय है- गुरु आदि के सन्निकट रहना ।

2 परच्छंदानुवर्तिता

गुरुजनों के स्वभावानुकूल रहना । उनकी इच्छानुरूप वर्तन करना ।

3. कार्य हेतु

किसी कार्य को सम्पन्न करने हेतु विनय करना ।

4 *कृत प्रतिक्रिया*

कृत उपकारों की म्मृति रखना । उनक प्रति कृतज्ञ रहते हुए उनके उपकार से उऋण होने का प्रयास करना ।

5 *गवेषणा*

आत्मा की खोज करना अथवा रूग्णादि आर्त्त प्राणियों की रक्षा हेतु उनकी गवेषणा करना ।

6 *देश-कालानुज्ञता*

देश–काल की परिस्थिति के अनुसार कार्य करना या समयोचित प्रवृत्ति करना ।

7 *सर्वत्र अप्रतिलोमता*

किसी के विरुद्धाचरण न कर सभी कार्यों में अनुकूल रहना, यह विनय की व्यापक पृष्ठभूमि है ।

प्रकारान्तर से विनय के पाँच भेद

विनय का अर्थ केवल काया की कमनीयता व वाणी का विलासमात्र ही नहीं है अर्थात् अपनी म्वार्थ–मिद्धि के लिए विश्वासघात करने क लिए झुकना, पूज्यजनों के प्रति नम जाना, वस्तुतः यह विनय नहीं, प्रत्युत कपटवृत्ति है । अनेक व्यक्ति अपनी स्वार्थ–सम्पूर्ति हेतु नमते हैं । माधुर्यपूर्ण वाणी द्वारा नम्रता प्रदर्शित करते हैं, परन्तु उसके पीछे उनकी कई भावनाएँ सन्निहित होती हैं ।

जैन परम्परा में आत्म–शुद्धि, ज्ञान–प्राप्ति, सद्गुण–प्राप्ति, गुरुभक्ति एवं गुणीजनों के मम्मान क लिए झुकना ही विनय कहा गया है । सद्गुणों क समक्ष झुकना नम्रता हैं परन्तु म्वार्थवश

1 से कि त लोगोवयारविणए ? लोगावयारविणए सत्तविहे पण्णत्ते त जहा-अब्भासवत्तिय परच्छदाणुवत्तिय कज्जहेउ कयपडिकिरिया अत्तगवेसणया देसकालण्णुया सव्वट्टसु अपडिलोमया

—अभिधान राजेन्द्र काष भाग 6 पृष्ठ 1154

झुकना दीनता है । जैनवाङ्मय ने नम्रता का उपदेश दिया है, दीनता का नहीं । प्रस्तुत कोष में विभिन्न भावनाओं से किए जाने वाले विनय के 5 प्रकारों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है-

लोगोवयारविणओ, अत्थनिमित्तं च कामहेउ च ।
भयविणय मुक्खविणओ, विणओ खलु पंचहा होई ॥[1]

लोकोपचार विनय, अर्थ विनय, काम विनय, भय विनय और मोक्ष (आत्म विनय) विनय । ये विनय के पाँच प्रकार हैं ।

लोकोपचार-विनय

अन्य को सुख पहुँचाने वाले बाह्याचार को लोकोपचार विनय कहते हैं । जनता का व्यवहार लोकोपचार कहलाता है । लौकिक लाभार्थ या लोकव्यवहार निभाने के लिए माता-पिता, शिक्षक, गुरुजन आदि की विविध प्रकार से विनय-भक्ति, सेवा सत्कार, पूजादि करना लोकोपचार विनय है । इसमें मुख्यतः प्रदर्शन की भावना होती है, मात्र औपचारिकता रहती है, अन्तःप्रसूत प्रेरणा नहीं । जैसे-उचित लोगों के आगमन पर खड़े होना, सम्मुख जाना, अञ्जलिबद्ध निवेदन करना, बैठने के लिए आसन प्रदान करना आदि ।

गृहागत की भोजनादि से अतिथि-पूजा करना आदि सब लोकोपचार के अन्तर्गत माना गया है ।[2] श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी विनय पद पूजा ढाल में लोकोपचार विनय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

आदर अंजलि आसन बेसन दान विभवे अतिपुंजरे ।
लोकोपचार समान ते जाणो जिनमुनि वंदन कुंजरे ॥[3]

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1152

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1153

3 जिनेन्द्र पूजा सग्रह, श्री विशतिस्थानक पद पूजा मे विनय पद

अर्थ-विनय

धन-सम्पत्ति आदि के प्रलोभन से प्रेरित होकर राजा, श्रीमंत राज्याधिकारी या सम्पत्तिशालियों का अभ्युत्थान अंजलि, आसन-दानादि द्वारा विनय सेवा-भक्ति व सम्मान करना अर्थविनय कहलाता है ।[1] ये भाव 'जिनेन्द्र पूजा संग्रह' में भी प्रतिबिम्बित हुए हैं ।[2]

काम-विनय

काम-पिपासा की सम्पूर्ति हेतु या भोग-सामग्री प्राप्त करने के लिए वैश्यादि कुलटा स्त्रियों के समक्ष नम्रता दिखाना, उनकी खुशामद या प्रशंसा करना अथवा धनादि द्वारा उनकी सेवा-सत्कार करना, यह सब काम-विनय है ।[3]

भय-विनय

किसी भी भयवश अथवा अपराध हो जाने पर श्रीमंत, सेठ, शिक्षक, न्यायाधीश, गुरुजन-धर्माचार्यादि का विनय करना, भय-विनय कहलाता है । प्रायश्चित्त से बचने के लिए गुरुजनों के प्रति नम्रता प्रदर्शित करना भय-विनय है ।[4]

मोक्ष (आत्म)-विनय

मोक्ष-विनय के सन्दर्भ में जैनवाङ्मय का दृष्टिकोण मात्र गुरुजनों के प्रति नम्रता के अर्थ तक ही सीमित नहीं है । वह मोक्ष-विनय को धर्म का मूल और उसका परमफल मोक्ष मानता है । तात्पर्य यह है कि जो आचरण-व्यवहार आंशिक या सर्वांश रूप से कर्मों के बन्धन से मोक्ष-प्राप्ति का हेतु हो, उसे मोक्ष-विनय कहते हैं । इसके अतिरिक्त देव-गुरु, धर्म-शास्त्र, मोक्ष-मार्ग

1 अब्भासवित्तिछदा-णुवत्तण देसकालदाण च ।
अब्भुट्ठाण अजलि-आसणदाण च अत्थकए ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1153

2 जिनेन्द्र पूजा सग्रह, श्री विशतिस्थानक पद पूजा मे विनय पद पूजा

3 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1153

4 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1153

(रत्नत्रयी) की साधना और आचारवान् के प्रति मोक्ष-लक्ष्य-प्राप्ति के उद्देश्य से नम्रता-विनय का प्रयोग करना भी मोक्ष-विनय के अन्तर्गत समाहित है। जैन परम्परा में केवल आत्म या मोक्ष-विनय को ही स्वीकार किया गया है। दर्शन-ज्ञानादि के भेद से मोक्ष-विनय भी पाँच प्रकार का है।[1] विनय पद पूजा ढाल में भी यही बात निम्नांकित पंक्तियों में दर्शायी गई है-

पाँच भेदे मोक्ष वखाण, भविभाव धरीने।
दंसण नाण चारित्र तव उवचारे पंचभेद पहचान रे।[2]

मोक्ष-विनय मुमुक्षु आत्माओं में ही होता है। वह भय, प्रलोभनादि के सामने नहीं झुकता है। वह तो केवल सद्गुणों के समक्ष नतशीष होता है।

उक्त विवक्षित विनय के प्रथम चार प्रकारों में विनय का वास्तविक रूप दृष्टिगत नहीं होता। उनमें विनय की आत्मा नहीं बोलती। वह तो मात्र विनय का ढांचा है और शिष्टता-सभ्यता तक ही परिसीमित है। आत्मलक्षी विनय ही वास्तविक विनय है, क्योंकि उसमें भावना पवित्र रहती है और वृत्तियाँ विशुद्ध।

1 *दसणनाणचरित्ते, तवे य तह ओवयारिए चेव।*
एसो अ मोक्खविणओ, पचविहो होइ नायव्वो॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1153

2 *जिनेन्द्र पूजा सग्रह, श्री विशतिस्थानक पद पूजा मे विनयपद पूजा*

विनय की महिमा

समस्त जैनवाङ्मय में विनय की महिमा बहुत गायी गई है । बड़े-बड़े दिग्गज महर्षि, मनीषी और महाशिरोमणियों ने विनय की महिमा मुक्तकण्ठ से खूब गाई है । विनय हमारे समग्र धर्माचरणों की नींव है । अतः साधक का बड़े-से-बड़ा और छोटे से छोटा आचरण विनयपरक होना चाहिए । विनयहीन धर्म वास्तव में धर्म ही नहीं है । इसीलिए अभिधान राजेन्द्र कोष में **धम्मस्स विणओ मूलं** का स्पष्ट उद्‌घोष हुआ है । उसके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है विनय जिनशासन का मूल है । विनीत व्यक्ति ही संयमित हो सकता है । जो विनयशून्य है, वह न तो धर्म की आराधना कर सकता और न तप की । तप-जप, ज्ञान-ध्यान, संयम और धर्म की आराधना तो विनयशील ही कर सकता

विनीत के चारों ओर सम्पदाएँ मण्डराती रहती हैं । जैसा कि **विवत्ती अविणीयस्स सम्पत्ति विणीयस्स** इन शब्दों में विनय की महत्ता प्रतिष्ठित की गई है । इससे बढ़कर विनय की महत्ता में और क्या कहा जा सकता है ? यहाँ तक कि उसे जीवन-शुद्धि, सर्व-सिद्धियों व सर्व-कल्याणों का मूल बताया गया है । उसकी महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है-'विनय का फल श्रवणेच्छा अथवा सेवा, गुरु-सेवा का फल ज्ञान-प्राप्ति, ज्ञान का फल विरति, विरति का फल आश्रवनिवृत्ति, संवर का फल तपः शक्ति, तप का फल निर्जरा, निर्जरा का फल क्रिया-निवृत्ति, क्रिया-निवृत्ति से योग-निरोध होता है । योग-निरोध होने से भव-परम्परा का क्षय होता है । भव-परम्परा के क्षय से

माक्ष प्राप्ति हाती है । इसलिए उसे सर्वकल्याणां का आधारभूत (भाजन) माना गया है।[1]

विश्व की जितनी भी शक्तियाँ हैं, विभूतियाँ हैं, पदवियाँ हैं इतना ही नहीं, प्रत्युत केवलज्ञान और मोक्ष-सब विनयाधीन हैं ।

श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी भी विनय-पद पूजा ढाल में इसी बात की सम्पुष्टि करते हैं-**'सर्व श्रेयनो मूल छे, करवो विनय विशेष।**[2]

विनय केवल भौतिक सिद्धि-समृद्धि प्रदायक ही नहीं, प्रत्युत वह आध्यात्मिक सिद्धि-समृद्धि प्रदायक भी है। अतः उसे सर्वकल्याण और सिद्धियों का मूल मानकर ही उसकी आराधना-साधना की गई है ।

जो साधक इसे अपने अन्तर्हृदय में प्रतिष्ठित कर लेता है, उसके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता ।

वस्तुतः यह एक अमोघ महाशक्ति है, जो इसे साध लेता है, वह संसार की समस्त कठिनाईयों पर विजय पा लेता है । जैसा कि **एक साधे सब सधै, सब साधे सब जाय** यह उक्ति प्रसिद्ध ही है। एक विनय सबको जीत सकता है । विनय को कोई नहीं जीत सकता-यह है विनय की महिमा और गरिमा ।

नच्चा नमइ मेहावी, बुद्धिमान् व्यक्ति ज्ञान पाकर नम्र हो जाता है । जैसे-फल-फूलों से लदी शाखा-प्रशाखाएँ । मात्र प्रस्तुत छोटी-सी सूक्ति से विनय की महत्ता उजागर हो जाती है । यह भी कहते हैं कि अधिक दाने वाले पौधे ज्यादा झुकते हैं और

1 *विनयफल शुश्रूषा, गुरु सुश्रूषा फल श्रुतज्ञानम् ।*
ज्ञानस्य फल विरति-र्विरतिफल चाश्रवनिरोध ॥
सवरफल तपोबल-मथ तपसो निर्जरा फल दृष्टम् ।
तस्मात् क्रियानिवृत्ति , क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥
योग निरोधाद् भवस-न्ततिक्षय सन्ततिक्षयान्मोक्ष ।
तस्मात् कल्याणाना, सर्वेषा भाजन विनय ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-337 एव भाग-3 पृष्ठ-523

2 *जिनेन्द्र पूजा सग्रह, श्री विशतिस्थानक पूजा मे विनयपद पूजा*

भूँसे वाले अकड़े हुए खड़े रहते हैं । इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध उक्ति है–

नमे आंबा आंबली, नमे दाड़म दाख ।
एरण्ड बेचारा क्या नमे, जिसकी ओछी जात ॥

इससे भी बढ़कर किसी संस्कृत कवि ने यथार्थ ही कहा है–

नमन्ति फलिताः वृक्षाः, नमन्ति विबुधाः नराः ।
शुष्कं काष्ठं च मूर्खश्च, न नमन्ति कदाचन ॥

फलवाले वृक्ष नमते हैं । विद्वान् पुरुष झुकते हैं, परन्तु सूखा काष्ठ और मूर्ख मनुष्य टूट जाते हैं; पर कभी झुकते नहीं हैं । भारतीय संस्कृति की एक प्रसिद्ध सूक्ति है–

भजन्ति वैतसीं वृत्तिं विद्वांसः कालवेदिनः अवसर आने पर विद्वज्जन बैंत की भाँति झुक जाते हैं । किसी ने ठीक ही कहा है–

झुकता वही है जिसमें कुछ जान है ।
अकड़पन तो खास मुर्दे की पहचान है ॥

विनय की महत्ता के सम्बन्ध में बाइबिल भी मौन नहीं रह सका है, कहा है– ह्युमिलिटी इज द की टु द डोर ऑफ हेवन (Humility is the Key to the door of Heaven.) विनय (नम्रता) स्वर्ग के द्वार की कुंजी है ।

तात्पर्य यह है कि विनय के अभाव में कोई तप–जप, व्रत–नियमादि नहीं टिक सकते । जैसे जलाभाव में कमल । जैनवाङ्मय में विनय के व्यावहारिक पक्ष को भी उजागर किया गया है–

जेण कीत्ति सुयं सिग्घं निस्सेसं चाभिगच्छइ ।[1]

विनय से यश–कीर्ति बढ़ती है और पूर्णतः प्रशस्त श्रुतज्ञान का लाभ आदि समस्त ईष्ट तत्त्वों की सम्प्राप्ति होती है । इसीलिए

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1170

कहा है– **तम्हा विणयमेसिज्जा** अर्थात् विनय का अन्वेषण करना चाहिए । तथागत बुद्ध भी इसी भाव को चित्रित करते हैं – **अत्यद्धो तादिसो लभते यशं**[1] – विनम्र पुरुष ही यश को पाता है ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जैन–परम्परा में विनय को इतना महत्त्व आत्म–पूर्णता की प्राप्ति, ज्ञान–प्राप्ति, गुरु–भक्ति, कर्म–निर्जरा और आत्मशुद्धि के लिए ही दिया गया है । इसप्रकार प्रस्तुत कोष में उट्टंकित **परमो से मोक्खो** के अनुसार विनय से मोक्ष तक मिल सकता है । यह महत्त्वपूर्ण कथन विनय की महत्ता और गरिमा को समुजागर कर देता है ।

धर्म का मूल विनय

मन की मधुरिमा जीवन का मधु है । मधु की मिठास जब वाणी में होती है, तब वह विनम्रता कहलाती है । इस विनम्रता से शैतान, फरिश्ता बन जाता है । विनय–विनम्रता – यह फरिश्ते की पाँखें हैं, जो मनुष्य को विकास के सर्वोच्च शृङ्ग पर ले जाती है । इसीलिए जीवन जगत् के रहस्यज्ञाता महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन में सर्वप्रथम धर्म के मूल विनय का पीयूषपान कराया और अपने अनुभव के प्रकाश में यह बताया कि जीवन में विनय का कितना महत्त्व है ।

विनय धर्म का मूल है । धर्म का अर्थ है–आत्मा का स्वभाव। आत्मा स्वभावतः कठोर नहीं है, कठोरता एवं अहंकार बाह्यागत वैभाविक तत्त्व है, स्वाभाविक नहीं । आत्मा का स्वभाव है विनम्रता। इसीलिए विनीत व्यक्ति ही विनयधर्म को स्वीकार करता है और उसका विकास कर सकता है । धर्म का मूल क्या है? गम्भीर प्रश्न है । इस प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थों में अनेक प्रकार से समाधान दिए गए हैं–कहीं पर दया को धर्म का मूल कहा गया है, तो कहीं विनय

1 दीर्घनिकाय-3/8/5

को धर्म का मूल कहकर अभिहित किया गया है । अभिधान राजेन्द्र कोष में **धम्मस्स विणओ मूलं** बताकर निम्नांकित पंक्तियों में वृक्ष की उपमा से उसे अभिव्यक्त करते हुए कहा है–

मूलाओ खंधप्पभवो दुम्मस्स, खंधा उपच्छासमुवेंति साहा ।
साहप्पसाहा विरूहन्ति पत्ता, तओ सि पुप्फं च फलं रसो य ॥
धम्मस्स विणओ मूलं, परमो से मोक्खो ![1]

वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है । स्कन्ध के पश्चात् शाखाएँ निकलती हैं । शाखाओं में से प्रशाखाएँ फूटती हैं और इसके बाद पत्र-पुष्प, फल और रस उत्पन्न होता है । इसीतरह विनय धर्मरूपी वृक्ष का मूल है और उसका सर्वोत्तम रस है – मोक्ष ।

जैसे बिना मूल का वृक्ष, धराशायी हो जाता है, ठीक वैसे ही बिना मूल (विनय) के जीवन में की जाने वाली साधना, तप, जप और संयमादि का कोई मूल्य नहीं होता ।

साधना का प्रत्येक आचार-विचार और व्यवहार विनय पर अवलम्बित है । विनय ही धर्म का प्राण तत्त्व है और एकमात्र सहायक है । प्रस्तुत कोष में जिनशासन का मूल भी विनय ही बताया है–

विणओ जिणसासणमूलो विणीओ संजओ भवे ।
विणियाओ विप्पमुक्कस्स कओ धम्मो कओ तवो ?[2]

विनय जिनशासन का मूल है । विनीत ही संयमी हो सकता है। जो विनय गुण से शून्य है उसमें कहाँ धर्म ? और कहाँ तप ? जिसमें विनय नहीं है उसमें धर्म और तप टिक ही कैसे सकते हैं । इसका आशय यही है कि जैसे मूल के अभाव में शाखा-प्रशाखाएँ फल-फूल कुछ नहीं टिक सकते वैसे ही विनयरूपी मूल के अभाव

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1170 एव भाग-5 पृष्ठ-1593
2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3 पृष्ठ-523

में फल–फूल रूपी धर्म, तप–संयम, ज्ञानादि कुछ नहीं टिक सकते। इसीलिए प्रस्तुत कोष में एक स्थल पर पुनः इसी बात को सुपुष्ट किया गया है– **विणयमूले धम्मे पण्णते**[1] इन भावों की चर्चा आचार्य श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी ने भी वीस–स्थानक पूजा की विनय पद पूजा ढाल में की हैं–

विनयधर्म नो मूल छे विनयधर्मनो सार ।
विनयधर गुणगणतणो वन्दो विनय विचार ।[2]

इतना ही नहीं, अपितु एक बार पाश्चात्त्य विचारक महात्मा आगस्टाइन से किसी ने पूछा– धर्म का सर्वप्रथम लक्षण क्या है ? उन्होंने स्वयं इसका उत्तर दिया कि 'धर्म का पहला, दूसरा, तीसरा, यहाँ तक कि सभी लक्षण एकमात्र विनय में निहित है ।' नीतिसूत्र में चाणक्य ने तो **इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः** इन्द्रिय जय का मूल भी विनय को ही बताया है ।

इसप्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैनागमों में विनय को धर्म का मूल कहकर जीवन के सभी क्षेत्रों में उसकी उपयोगिता, उपादेयता व महत्त्व को स्वीकार किया है ।

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-4 पृष्ठ-2401
2 जिनेन्द्र पूजा सग्रह, विशति स्थानकपद पूजा मे विनयपद पूजा

ज्ञान-प्राप्ति का स्रोत : विनय

समस्त भारतीय आर्यधरा ज्ञान की गरिमा से सदैव गौरवान्वित रही है । जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में ज्ञान सदा शीर्षस्थ स्थान पर आसीन रहा है । वह किसी भी देश, समाज या व्यक्ति-विशेष के संकीर्ण घेरे में आबद्ध नहीं होता । वह तो सदा सार्वदेशिक और सार्वकालिक होता है । वास्तव में इस संसार में ज्ञान की महत्ता सर्वोपरि है । निस्संदेह इससे बढ़कर इस संसार में और कोई उत्तम एवं पवित्र वस्तु है ही नहीं । जैसा कि गीता में भी कहा है- **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**[1]

ज्ञान सूर्यवत् प्रकाशक है । जैसे सूर्य अन्धकार को दूर कर चारों ओर प्रकाश फैलाता है, वैसे ही सम्यग्ज्ञान अज्ञान-तिमिर को हटाकर जीवन में प्रकाश फैलाता है । जैसा कि अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है- **णाणं पयासगं**[2] ज्ञान प्रकाश करने वाला है । उसके प्रकट होते ही सब कुछ प्रकाशमान हो जाता है । नीतिवाक्यामृत में उसे **शास्त्रं तृतीय लोचनं** तीसरी आँख कहा है। बृहत्कल्प भाष्य में **सूयं तइयं चक्खू** कहकर इस बात की पुष्टि की गई है । अपनी ही नहीं, प्रत्युत ! समस्त जगत् की-**सर्वस्य लोचनं शास्त्रं** आँख है ज्ञान ।

'ज्ञान' जीवन-जगत्, आत्मा-परमात्मा व पुण्य-पाप तत्त्व का सम्यक् व्याख्याता है । वह जहाँ एक ओर जीवन-निर्माण के लिए अनमोल आदर्श उपस्थित करता है, तो वहीं दूसरी ओर जीवन को पतन से बचाने का मार्ग भी सुझाता है । ज्ञान पथभ्रष्टों का सच्चा मार्गदर्शक है । वह एक प्रकाशपुञ्ज है, जो दिग्भ्रान्त

1 भगवद्गीता-4/38

2 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-444

पथिक का दूर-सुदूर तक दिशा निर्देश दता रहता ह । वस्तुतः ज्ञान मानव के विनम्र विचारां का अक्षय कोष है ।

नॉलेज इज पॉवर (Knowlodge is Power) ज्ञान शक्ति है; क्योंकि बिना नेत्रां से देख, कानों से सुने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (लोकालोक) के अणु-अणु की बात उसके द्वारा जानी जा सकती है । ज्ञान अग्नि भी हैं, जो समस्त कर्मों को भस्मसात् कर देती है। गीता में भी इसकी स्पष्ट झलक मिलती है । पाश्चात्य विचारक हलन कलर ने तो जीवन की सुन्दर सारभूत बात कह दी है, उसका यह कथन नितान्त सत्य है- नॉलेज इज हेप्पीनेस (Knowlodge is happiness) ज्ञान प्रसन्नतामय है, वह आनन्द देने वाला है; उस ज्ञान-रस के आनन्द सागर में अवगाहन कर व्यक्ति सब कुछ विस्मृत हो जाता है । तात्पर्य यह है कि ज्ञान ही जगत् में सब कुछ है ।

मानव-मस्तिष्क जिज्ञासाओं का अक्षयकोष है । वह अपनी जिज्ञासा की सन्तुष्टि चाहता है । अतः यहाँ सहज ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि आखिर उस ज्ञान-प्राप्ति का स्रोत क्या है ? उसे कैसे सम्प्राप्त किया जा सकता है ।

प्रस्तुत कोष में इस प्रश्न का समाधान एक ही वाक्य में सुन्दर सारगर्भित शब्दों में चित्रित कर दिया गया है- **विणया णाणं**[1] विनय से ज्ञान प्राप्त होता है । इतना ही नहीं, प्रत्युत इसकी तलस्पर्शी महत्त्वपूर्ण विवेचना करते हुए यहाँ तक कहा गया है-

जो विणओ ते णाणं, जे णाणं सोउ वुच्चइ विणवो ।
विणयेण लहइ णाणं, नाणेण विजाणइ विणयं ॥[2]

जो विनय है, वही ज्ञान है और जो ज्ञान है वही विनय कहा जाता है । विनय से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से विनय जाना

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-337
2 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-4 पृष्ठ-1980

जाता हे, अत॰ ज्ञान ओर विनय अन्यान्याश्रित हें, एक दूसर के पूरक हैं ।

उपर्युक्त गाथा से यह ध्वनित होता है कि ज्ञान और विनय परस्पर अनुस्यूत है । दोनों को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता । विनय को ज्ञान और ज्ञान को विनय कहकर यहाँ दोनों की अभिन्नता प्रकट की गई है । इस सन्दर्भ में एक अंग्रेज विचारक ने बहुत ही तथ्यपूर्ण बात कही है–

'यदि तुम ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो तो नम्र बन जाओ और ज्ञान प्राप्त हो जाए, तो और भी अधिक नम्र बन जाओ।'

उपर्युक्त कथन में वास्तविकता को टंकित किया गया है कि ज्ञान रूपी अमृत का पान कर व्यक्ति को अधिक नम्र और मृदु बनना चाहिए; क्योंकि ज्ञान मनुष्य को मृदु बनाता है, परन्तु कुछ मनुष्य उसे पाकर नम्र बनने के बजाय और अधिक मदोद्धत हो जाते हैं और **अधजल गगरी** की भाँति छलकने लग जाते हैं । उनके लिए अमृत रूप औषधि भी विष बन जाती है । यह सत्य है कि लिटिल नॉलेज इज मोर डेंजरस (Little knowledge is more dangerous) अल्प ज्ञान अधिक खतरनाक होता है । पर वास्तविकता तो यही है कि विनीत विद्या प्राप्त कर अहंकार नहीं करता, प्रत्युत विद्यारूप फल पाकर नम्र बन जाता है । जैसे फलागमन पर वृक्ष झुक जाता है । इसीलिए कहा भी है कि **विद्या ददाति विनयम् ।**

विनीत की ही विद्याएँ सुशोभित होती हैं । विद्या विनीत को पाकर अपने आपको वैसे ही धन्य और अलंकृत समझती है, जैसे सुशीला कन्या सत्पुरुष का वरण कर । इतना ही नहीं, प्रत्युत वह विद्या, विनय-विवेक के आलोक में आलोकित हो उठती है । अतः विनयशील को ही समस्त योग्यताओं और विद्याओं का अधिकारी माना गया है ।

यह सत्य है कि विनयपूर्वक अधीत विद्या ही उभयलोक में सफलीभूता होती है। इसके विपरीत विनयशून्यता से प्राप्त की गई विद्या (ज्ञान) उसीप्रकार निष्फलवती होती है, जैसे- बिना पानी की फसलें।[1] हूबहू इसकी स्पष्ट झांकी निशीथचूर्णि में भी परिलक्षित होती है।[2]

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि जो विद्या (ज्ञान) विनय-विनम्रता से अर्जित की जाती है, सीखी जाती है, वही विद्या वस्तुतः जीवन में पुष्पित-पल्लवित, विकसित और आनन्द-प्रदायिनी बनती है तथा आत्मकल्याणकारिणी भी। इसीबात को एक रूपक के माध्यम से अंकित किया गया है-

जे आयरिय उवज्झायाणं सूस्सूसावयणं करे।
तेसिं सिक्खापवड्ढन्ति जलसित्ता इव पायवा॥[3]

जो शिष्य अपने आचार्य-उपाध्यायादि गुरुजनों की विनयपूर्वक सेवा-शुश्रूषा करते हैं, उनके आदेशों को शिरोधार्य करते हैं, उनकी विद्याएँ-शिक्षाएँ वेसे ही परिवर्धिता होती हैं, जैसे- जल से सींचे जाने पर वृक्ष बढ़ते हैं।

जबकि इसके विपरीत अयोग्य, अपात्र अथवा अल्पाधार को दिया गया ज्ञान न तो बढ़ता है और न ही टिकता है, प्रत्युत उसका ही विनाशक और विघातक सिद्ध होता है। 'जैसे- मिट्टी के कच्चे कलश में डाला गया जल उस कलश को ही विनष्ट कर डालता है, उसीप्रकार अल्पाधार को दिया गया गम्भीर शास्त्रज्ञान अथवा शास्त्र-सिद्धान्तों का रहस्य उसके विनाश के लिए ही होता है

1 *विणयाहीया विज्जा देति फल इह परे य लोगम्मि।*
न फलति विणयाहीणा, सस्साणिव तोयहीणाइ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-5 पृष्ठ-267

2 *निशीथचूर्णि-13*

3 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1172*

अर्थात् उसे ही नष्ट कर डालता है ।[1]

प्रस्तुत कथन का आशय मात्र इतना ही है कि आगमिक गूढ-गंभीर बातों का वास्तविक ज्ञान विनीत पात्र को ही मिल सकता है, अविनीत को नहीं । वह उसकी यथार्थता से वंचित ही रहता है । यह सत्य है कि पूज्य गुरुजन भी शिष्य की योग्यता-पात्रता को भलीभाँति परखकर ही विद्या प्रदान करते हैं । इसीलिए प्रस्तुत कोष में कहा है- 'पहले से ही शिष्य के विनयादि गुणों से परिचित पूज्य आचार्य जिस शिष्य पर प्रसन्न होते हैं, उसे प्रसन्न हुए वे (गुरुजन) अर्थित विपुल श्रुतज्ञान का लाभ देते हैं ।'[2]

इस सम्बन्ध में यदि हम थोड़ा-सा अतीत के इतिहास के सन्दर्भों में भी अवगाहन करते हैं तो सहज ही मस्तिष्क में यह प्रश्न प्रादुर्भूत होता है कि महावीर के समक्ष विशाल जनसमुदाय समुपस्थित था । हजारों-सैकड़ों साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाएँ नतशीष सेवा में विद्यमान थे । तथापि श्रमण महावीर ने अपने ज्ञान का पात्र गौतम को या जयन्ती-रेवती को ही क्यों चुना था ? इसीलिए कि गौतम, रेवती तथा जयन्ती में वह पात्रता थी, अर्हताएँ थीं, जो वस्तुतः होना चाहिए । ज्ञान-पिपासा की तीव्र उत्कण्ठा थी । इसके अतिरिक्त वे सश्रद्धा अनन्यभावेन समर्पित थे महावीर के प्रति ।

सिद्धान्तों का गूढ़रहस्य गुरुजनों से तभी मिल सकता है, जबकि शिष्य को उनके चित्त का, मनोगत भावों का ज्ञान हो जाय । इस सम्बन्ध में अभिधान कोष में एक महत्त्वपूर्ण कथन अंकित है-

चित्तण्णू अनुकूलो सीसो सम्मं सुयं लहइ ।[3]

1 आम घडे निहित जहा जल त घड विणासेई ।
इय सिद्धान्तरहस्स अप्पाहार विणासेई ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-1 पृष्ठ-351

2 पुज्जा जस्स पसीयति, सबुद्धा पुव्वसथुया ।
पसन्ना लभइस्सति, विउल अट्ठिअ सुय ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1167

3 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-3 पृष्ठ-936

गुरुजन के चित्त (अभिप्राय) को समझकर उनके अनुकूल चलने वाला विनीत शिष्य ही सम्यक् श्रुतज्ञान प्राप्त करता है । विनय की आराधना करने से ही उसका वह प्राप्त शास्त्रज्ञान प्रशंसनीय और संदेहरहित होता है ।

वास्तविकता तो यह है कि ज्ञान (विद्या) चाहे लौकिक (व्यावहारिक) हो, या लोकोत्तर, विनयाभाव में वह प्राप्त नहीं हो सकता । अतः सुस्पष्ट है कि ज्ञान-प्राप्ति का मूलमन्त्र ही विनय है । विनय से ज्ञान आता है और ज्ञानवान् आत्मा एक क्षण में जितने पापों का क्षय कर सकती है । अज्ञानी जन्म भर में भी उतने पापों को क्षय नहीं कर सकता । इसीलिए दशवैकालिक में भी कहा है- **विणयेण नाणो हुंति ।**

ज्ञान ही नहीं, अपितु इस विश्व में ऐसी कोई दुष्प्राप्य वस्तु नहीं है, जो विनय (झुकने) से उपलब्ध न होती हो । झुकने से सब कुछ सुलभ हो सकता है और जो झुकता है उसके समक्ष दुनिया स्वतः झुक जाती है । विनीत स्वयं झुककर समस्त संसार को झुका लेता है । जैसा कि कबीर ने ठीक ही कहा है-

सब ते लघुताई भली, लघुता से सब होय ।
जस द्वितीया को चन्द्रमा, शीश नवे सब कोय ॥

इसप्रकार उपर्युक्त समग्र विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि विनय गुण ही ज्ञानोपलब्धि में परम सहायक है और ज्ञान-सहित धर्माचरण हमें अभीष्ट मोक्षोपलब्धि करा सकता है । इसीलिए सम्पूर्ण जैनवाङ्मय में स्थान-स्थान पर विभिन्न रूपकों के माध्यम से विनय के उपदेशामृत की अजस्रधारा प्रवाहित हुई और हजारों वर्ष पूर्व सम्पादित वे ग्रन्थ आज भी आकाशी ध्रुव तारे की भाँति टिमटिमा रहे हैं और हमें सतत दिशा-निर्देश दे रहे हैं ।

समस्त सद्‌गुणों का आविर्भाव स्थल : विनय

विनय समस्त सद्‌गुणों का सरताज है, जीवन का आन्तरिक शृङ्गार है, स्वर्गारोहण का प्रथम द्वार है । इतना ही नहीं, प्रत्युत विनय की गन्ध के समान दूसरी गन्ध नहीं, जो पवन की अनुकूल और प्रतिकूल दोनों दिशाओं में एक समान बहती है ।

तात्पर्य यह कि बहुमूल्य मुक्ता-मणियों से मंडित पुरुष उतना सुशोभित नहीं होता, जितना कि विनयाभूषणों से विभूषित साधक सुशोभित होता है । अभिधान राजेन्द्र कोष में विनय को समस्त सद्‌गुणों का केन्द्र-स्थल बताते हुए सुन्दर विवेचना की गई है-

नच्चा नमइ मेहावी, लोए कीत्तिं से जायइ ।
हवइ किच्चाण सरणं, भूयाणं जगइ जहा ॥[1]

विनय सर्वसद्‌गुणों का आधार माना गया है । जैसे- समस्त वनस्पतियों को उत्पन्न करने वाली पृथ्वी सब जीवों के लिए शरण-भूत है, आधारस्वरूप है, ठीक वैसे ही विनय संसार के समस्त सद्‌गुणों का आश्रय-स्थल है, केन्द्र है । प्रज्ञा-सम्पन्न पुरुष विनम्र बनकर समस्त सद्‌गुणों को अपनाता है जिससे संसार में उसकी यशकीर्ति बढ़ती है ।

'विनय' यह एक ऐसी लोह चुम्बकीय आकर्षण शक्ति है, जो सभी सद्‌गुणों को स्वतः अपनी ओर खींच लेती है । इस एक गुण के विकसित होते ही अन्य सभी सद्‌गुण इसके अनुगामी बने हुए स्वतः खिंचे चले जाते हैं । किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है-

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1167

अविनय दुर्गुणों का धाम है तो विनय सभी सद्गुणों की खान । परन्तु उस महान् विनय गुण को जीवन के प्रत्येक कण में, प्रत्येक रूप में और जीवन व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र में आत्मसात् करना महादुष्कर है । जैसा कि अभिधान राजेन्द्र कोष में स्पष्टतः प्रतिध्वनित हुआ है–

बाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो गुणोयही ।[1]

सद्गुणों की साधना का काम भुजाओं से समुद्र तैरने जैसा है, परन्तु यह भी नितान्त सत्य है कि इस विश्व में ऐसी कोई वस्तु अलभ्य नहीं है; जो विनयशील को नहीं मिल सकती हो । यशकीर्ति, सम्मान, पूजा–प्रतिष्ठा आदि सब उसके अनुचर बनकर रहते हैं, चरण चूमते हैं । इसीलिए तो प्रशमरति प्रकरण में उमास्वाति स्पष्ट कहते हैं– **विनयायत्ताश्च गुणाः सर्वे**[2] अर्थात् समस्त सद्गुण विनय के ही अधीन रहते हैं ।

श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी ने भी **सकल गुणनो आधार, भवि भाव धरी ने रे**[3] कहकर इस तथ्य की पुष्टि की है । प्रशमरति में कहा है– 'मनुष्य के पास भले ही अन्य सैकड़ों सद्गुण और विपुल साधन–सम्पत्ति हो, परन्तु एक विनयगुण के नहीं होने पर कुल, रूप, बल, वाणी–सम्पदा आदि सब कुछ निर्जला (जलरहित) नदी के समान शोभाहीन प्रतीत होते हैं ।'[4] इससे भी बढ़कर कहा है– **सकल–गुण–भूषा च विनयः** समस्त गुणों का भूषण (शृङ्गार) एकमात्र विनय–विनम्रता ही है । विनम्रता जीवन का एक ऐसा महान् गुण है कि अन्य समस्त सद्गुण मिलकर भी उसका मुकाबला नहीं कर सकते ।

1 *अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-295*
2 *प्रशमरति प्रकरण गाथा-169*
3 *जिनेन्द्र पूजा सग्रह, श्रीविशति स्थानकपद पूजा मे विनयपद पूजा*
4 *कुल रूपवचन यौवन, धनमित्रैश्वर्य सपदपि पुसाम् ।*
विनयप्रशमविहीना,न शोभते निर्जलेव नदी ॥
-प्रशमरति प्रकरण-गा 67

वस्तुतः विनय-विनम्रता के अभाव में प्रभूत धन-सम्पदा और पाण्डित्य भी फीका लगता है। विद्वत्ता के साथ विनम्रता-मृदुता वास्तव में ही मन-मस्तिष्क को सहसा प्रभावित करती है। इस संबन्ध में सूक्तिरत्नावली में निम्नांकित पंक्तियों में कितनी सचोट एवं तथ्यात्मक बात प्रस्तुत की गई है- **पाण्डित्ये सति नम्रत्वं हीरोयं कनकोपरि** अर्थात् विद्वत्ता के साथ विनम्रता होना सोने के ऊपर हीरा जड़ने के समान है। तात्पर्य यह है कि यह 'विनम्रता, विद्वत्ता, धन और बल सभी में चार चाँद लगा देती है। नीतिकारों ने भी कहा है- **विनयाद् याति पात्रतां पात्रत्वाद्धनमाप्नोति** विनम्रता से योग्यता आती है और योग्य व्यक्ति के पास सद्गुण धन-सम्पत्ति स्वतः चली आती है। इसी की प्रतिध्वनि अभिधान राजेन्द्र कोष में भी अभिव्यञ्जित हुई है- **सम्पत्ति विणीयस्स**[1] सम्पदाएँ (सम्यग्ज्ञानादि आध्यात्मिक सम्पदाएँ भी) स्वयं आकर विनीत को वरण करती हैं।

नम्रता जीवन का एक सुन्दरतम आभूषण है। इससे मनुष्य के समस्त सद्गुण सौरभपूर्ण हो जाते हैं। उत्तराध्ययन चूर्णिकार स्पष्टतः कहते हैं- **न विनयशून्यते गुणावस्थानम्**[2] विनयहीन व्यक्ति में सद्गुण नहीं ठहरते हैं। तात्पर्य यह है कि नम्रता देवत्व के समान है। इसी से मनुष्य की शिष्टता-शालीनता प्रकट होती है और लोकजीवन की विभूतियाँ सुलभ होती हैं। कन्फ्युशियस ने तो बहुत सुन्दर बात कही है। **नम्रता ही समस्त सद्गुणों का सुदृढ़ आधार है।** इस सन्दर्भ में एक बड़ा रोचक रूपक दृष्टव्य है- न्यूटन एक महान् प्रतिभाशाली प्रखर वैज्ञानिक थे। उन्होंने बीजगणित के द्विपद गुरुत्वाकर्षण आदि सिद्धांतों का आविष्कार किया था। उनके चिन्तन और विद्वत्ता पर समस्त यूरोप (इंग्लैण्ड) को गौरव था। उन्हीं महान् वैज्ञानिक के पास एक बार एक महिला

1 *अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1173*

2 *उत्तराध्ययन चूर्णि-1*

पहुँची और आन्तरिक सत्यतापूर्वक उनकी विद्वत्ता-याग्यता, प्रतिभा और ज्ञान की प्रशंसा करने लगी । आत्म-प्रशंसा मुनकर न्यूटन बड़ी विनम्रतापूर्वक बोले- 'मैं तो उस बच्चे की तरह हूँ कि मत्य के विशाल सागर के किनारे पर बैठा हुआ केवल कंकर ही बीनता रहता हूँ। ज्ञान के असीम सागर में तो मैंने अभी तक प्रवेश ही नहीं किया है ।' आगन्तुक महिला तो महाविद्वान् न्यूटन की विनम्रता देखकर आश्चर्यचकित ही रह गई ।

इसप्रकार निष्कर्षतः संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि विनय-गुण सभी गुणों में सर्वोत्तम और महान् है । अतः उसमें सभी सद्‌गुण समाहित हो जाते हैं । जीवन की धरती पर खड़ा किया जाने वाला व्यावहारिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक दिव्य प्रासाद भी आधार की अपेक्षा रखता है और वह आधार है विनय। उसके अभाव में वह प्रासाद धराशायी हो जाता है । अतः उसे समूचे सद्‌भावों का मूलाधार माना गया है ।

जीवन का जगमगाता दीप : विनय

वस्तुतः विनय-विनम्रता जीवन विकास का वह आधारभूत प्रथम सोपान है जिसके अवलम्बन से व्यक्ति ऊपर उठ सकता है, जीवन-पथ पर आगे बढ़ सकता है और स्व तथा पर का कल्याण कर सकता है । इसके विपरीत विनय शून्य कठोर एवं अभिमानी व्यक्ति परिवार, संघ, समाज, देश एवं राष्ट्र में कहीं भी अपना स्थान नहीं बना सकता । इसीलिए जीवन में विनय को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है ।

इस विनय में अद्‌भुत शक्ति समाहित है । अतः किसी कवि ने ठीक ही कहा है-

प्रचण्डे संघर्षे प्रसरति लसत्प्रेमलहरी ।
सदा लोको ध्वान्ते ध्वनति च विषादे मृदुदधिः ॥

विषे पीयूषोत्था भवति सफलं निष्फलमपि ।
किमन्यद् नम्रत्वाद् द्रवति वसुधायां दृषदपि ॥

नम्रता से तीव्र संघर्ष में भी प्रेम की लहर फैलने लगती है । अन्धकार में भी ज्योति का दर्शन होने लगता है । विष में भी अमृत का उदय होने लगता है, निष्फल भी सफल होने लगता है। अधिक क्या कहा जाए, नम्रता से पृथ्वी पर पत्थर भी पिघल जाता है ।

आँधी तूफान आते हैं । उनमें बड़, पीपल व आम के बड़े-बड़े वृक्ष धराशायी हो जाते हैं, किन्तु घास का कुछ नहीं बिगड़ता है ? क्यों ? कारण स्पष्ट है- विनय-नम्रता । घास मुलायम है, नम्र है, झुकना जानती है। जो अहंकारवश सिर उठाए खड़े रहते हैं, वे टूट जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं और जो विनयी हैं, वे सदा सुरक्षित रहते हैं ।

इस सन्दर्भ में महाभारत के शान्तिपर्व में एक बड़ा रोचक रूपक प्रस्तुत किया गया है । वह इसी सत्य को प्रतिपादित करता है । एक बार सरित्पतिसागर ने वेत्रवती नदी को उलाहना देते हुए कहा- क्यों वेत्रवती ! अन्य सभी नदियाँ प्रतिदिन भाँति-भाँति के बड़े-बड़े वृक्षों को, फल-फूल आदि अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ लाती हैं और तुम अपने तट पर उत्पन्न हुए बैंत कभी नहीं लाती हो, इसका रहस्य क्या है ? वेत्रवती सरिता ने बड़े विनम्र स्वर में जवाब दिया- स्वामिन् ? मैं क्या करूँ ? विवश हूँ । मैं जहाँ से बहती हूँ, वहाँ बैंत के वृक्ष हैं । मैं ज्यों ही अपना प्रवाह बढ़ाती हूँ वे बैंत झुक जाते हैं । अतः मैं उन्हें कैसे उखाड़कर ला सकती हूँ, उन पर मेरा जोर नहीं चल पाता । नदेश ! हमारे तट पर हमारे ही जल से पोषित जो वृक्ष अकड़े खड़े रहते हैं । अतः मैं उन्हें प्रवाह में बहाकर ले आती हूँ ।

इस रूपक से स्पष्टतः सिद्ध होता है कि विनम्र व्यक्ति का कदापि कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता । किसी उर्दू शायर ने सत्य ही कहा है-

अकड़ने से नाहक ही टूटेगा सर,
गर दर नीचा हो तो झुककर गुजर ।

इसीलिए कहा गया है कि अविनय छोड़ो और विनम्र बनो; क्योंकि (अहं) कठोरता जीवन का कलंक है और नम्रता जीवन का माधुर्य । कठोरता जीवन की दुर्गन्ध है तो नम्रता महक । एक में जीवन का ह्रास है तो दूसरे में विकास । एक में विद्वेष की आग है तो दूसरे में फूलों का बाग । एक में जीवन का अन्धकार है तो दूसरे में आत्मा का प्रकाश ।

नम्रता में वह क्षमता है जो अपने अतिक्रुद्ध माता-पिता, गुरुजन आदि को भी झुका लेती है । इसके द्वारा क्रोधानल से आक्रान्त व्यक्ति को भी उपशान्त किया जा सकता है । पत्थर को भी पिघलाया (द्रवित) जा सकता है । नम्रता वह शक्ति है,

जो मनुष्य को भी देवता बना देती है । पाश्चात्त्य विद्वान् आगस्टाइन ने भी कहा है–

'गर्व से देवता भी दानव बन जाता है और विनय से मानव देवता ।' आगस्टाइन ने कितनी यथार्थ बात कही है कि विनय के अभाव में अंहकार के कारण जहाँ देवता भी दानव के सदृश हो जाता है, वहाँ विनय गुण से सुशोभित मनुष्य, मनुष्य होकर भी देवता कहलाने लगता है ।

विनीत सूर्य के प्रकाश की भाँति जहाँ भी जाता है सर्वत्र सम्मान पाता है तथा सबको अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है । इसीलिए अभिधान राजेन्द्र कोष में भी इसका निर्देश देते हुए कहा है– 'आत्महितैषी पुरुष अपने आपको विनय में स्थिर करे ।[1] विनीत व्यक्ति के मन में कदापि ये भाव नहीं उभरते कि आय एम समथिंग (I am something) मै कुछ हूँ, प्रत्युत वह सदैव अपने में यह अनुभव करता है– आय एम नथिंग (I am nothing) मैं कुछ नहीं हूँ और इसी में उसके जीवन का अभ्युत्थान निहित है ।

---

1 *विणये ठविज्जअप्पाण इच्छतो हियमप्पणो ।*

–अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1159

विनय की फलश्रुति : मुक्ति-प्राप्ति

बुद्धिशाली पुरुष किसी लक्ष्य या प्रयोजन को निर्धारित करने के पश्चात् ही कार्यारम्भ करते हैं । कार्यारम्भ करने से पूर्व उनके समक्ष कोई-न-कोई लक्ष्य या कल्पना रहती ही है । लौकिक व्यवहार में भी देखा जाता है कि बिना प्रयोजन के कोई भी व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता । जैसाकि **प्रयोजनमनुदिश्य मन्दोपि न प्रवर्तते** यह उक्ति प्रसिद्ध ही है ।

सामान्यतः विनय अनेक भावनाओं से प्रेरित होकर किया जाता है, परन्तु वस्तुतः विनय आत्म-शुद्धि एवं कर्म-निर्जरा (मोक्ष) के महान् उद्देश्य से प्रेरित होकर ही किया जाना चाहिए । किसी भौतिक लाभ या फल को दृष्टिगत रखकर नहीं । विनयरूपी वृक्ष से मोक्ष रूप मधुर फल चाहने वाला ही सच्चा साधक कहा जा सकता है। यश-कीर्ति, मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा आदि किसी भी उद्देश्य की सम्पूर्ति हेतु विनय करना, अनाज मे घास-फूस पाने जैसा है अथवा तो आम वृक्ष से लकड़ियों को पाने के समान है ।

जैन वाङ्मय में विनय का अन्तिम फल मोक्षोपलब्धि बताया गया है । इस सम्बन्ध में स्पष्ट उद्घोष है कि **परमो से मोक्खो ।**[1] यह भी कहा है कि वह विनय अष्टक.. दल को नष्ट कर, चतुर्गति संसार का अन्त कर मोक्ष-फल की प्राप्ति करवाता है ।

आचार्य श्री धनचन्द्रसूरिजी ने भी 'जिनेन्द्र पूजा संग्रह' में विनय को कर्म-निर्जरा का कारण बताते हुए इन्हीं विचारों को दूसरे शब्दों में अभिव्यक्त किया है-

अनादि निधन आठ कर्मनो संचय रिक्त करे जयमान रे[2]

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1170

2 जिनेन्द्र पूजा सग्रह, विशति स्थानकपद पूजा मे विनयपद पूजा

चिरकालीन संचित अष्टकर्म समूह को विनय नष्ट कर देता है । तात्पर्य यह है कि विनय से आत्मा कर्म-मल से मुक्त होकर विशुद्ध, विमल और प्रोज्ज्वल बन जाती है । आत्मा के साथ जो अनन्तानन्त कर्म-रज चिपक कर उसे मलिन बना रहा है तथा उसके विशुद्ध प्रकाशमान् स्वरूप को आवृत्त कर रहा है विनय उस कर्म-रज को छिन्न-भिन्न कर आत्मिक सूर्य की निर्मल ज्योति को व्यक्त कर देता है । विनय का यही प्रयोजन है और यही उसका फल है । विनय का परम फल तो मोक्ष ही है ।

उसका पारम्परिक परमफल, मोक्ष का अव्याबाध सुख बताते हुए कहा है-

विणया णाणं णाणाउ, दंसणं दंसणाहि चरणं तु ।
चरणाहिंतो मोक्खो, मुक्खं अणाबाहं ॥[1]

विनय से ज्ञान आता है। ज्ञान से जीवन-जगत्, जड़-चैतन्यादि तत्त्वों का सम्यक् बोध हो जाता है । सत्यासत्य का विवेक हो जाने पर सत्य-दृष्टि प्राप्त हो जाती है । सत्यदृष्टि (सम्यग् दर्शन) से मुक्ति का निकटतम कारण चारित्र (आचरण) प्राप्त होता है । सम्यगाचरण से मोक्ष मिलता है और मोक्ष से अव्याबाध सुखोपलब्धि होती है ।

विनय, यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा पाने के लिए नहीं, प्रत्युत मोक्ष मार्ग की प्राप्ति के लिए, आत्मा को अष्टकर्मों के बन्धन से मुक्त करने के लिए है । विनयरूप दीपक प्रज्ज्वलित होगा तो अन्धकार स्वतः हट जाएगा । अन्धकार मिटा तो प्रकाश अपने आप प्रसरित होगा । आचार्य धनचन्द्रसूरिजी म. विनयपद पूजा ढाल में लिखते हैं-

रत्नत्रयी पावे संवर निर्जर, गुरु विनये गुणवन्त रे ।[2]

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-337

2 जिनेन्द्र पूजा सग्रह विशति स्थानकपद पूजा मे विनयपद पूजा

अभिधान राजेन्द्र कोष में विनय की फलश्रुति बताते हुए कहा है– जो साधक अपने स्वार्थों की परवाह न करके प्राणप्रण से सद्गुरु के निर्देशों का पालन करते हैं, उनके आदेशानुसार प्रवृत्ति करते हैं तथा जो गीतार्थ–श्रुतधर्म के सिद्धान्तों के सूक्ष्म रहस्यों के ज्ञाता होते हैं, विनय धर्म में कोविद (दक्ष) होते हैं, वे इस दुस्तर संसार–सागर को सुखपूर्वक तैरकर तथा कर्मों का क्षय करके सर्वोत्कृष्टगति में जाते हैं (गए हैं और जायेंगे) ।[1]

प्रस्तुत कोष में विनयपूर्वक की गई गुर्वाराधना के महाफल को भी प्रतिपादित किया गया है ।

पूर्व विवक्षित भावों को निम्नांकित पंक्तियों में सुन्दर सुव्यवस्थित ढंग से उद्घाटित करते हुए कहा है–'अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट ज्ञानादि गुणरत्नों) की सम्प्राप्ति का इच्छुक कर्मक्षय रूप, निर्जरा–धर्माकांक्षी शिष्य ज्ञानादि महारत्नों के निधान समाधियोग, श्रुत–शील और प्रज्ञा–सम्पन्न महर्षि आचार्यों की आराधना करें तथा उन्हें (विनय–भक्ति से) सदा तुष्ट–प्रसन्न करे । वह मेधा–सम्पन्न विनीत शिष्य उनके सुभाषित वचनों को श्रवण कर अप्रमत्तमना आचार्य की सेवा–शुश्रूषा करे । इसतरह वह अनेक गुणों की आराधना करके (सर्वोत्तम–सिद्धि) मुक्ति–लाभ करता है ।[2]

1 निद्देसवित्ती पुण जे गुरुण,
सुअत्थाधम्मा विणयम्मि कोविआ ।
तरित्तु ते ओघमिण दुरुत्तर,
खवित्तु कम्म गइमुत्तमगय ।
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1173

2 महागरा आयरिआ महेसी,
समाहिजोगे सुअसीलबुद्धिए ॥
सपाविउकामे अणुत्तराइ,
आराहए तोसइ धम्मकामी ।
सुच्चाण मेहावी सुभासिआइ
सुस्सुसए आयरिअप्पमत्ते ।
आराहइत्ता ण गुणे अणेगे,
से पावई सिद्धिमणुत्तर ति ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1170

उक्त पंक्तियों में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि विनयपूर्वक गुरु की आराधना कैसे करनी चाहिए और क्यों करनी चाहिए ? विनयपूर्वक की गई गुर्वाराधना से क्या लाभ होता है ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान में चार शब्द हमारे समक्ष आते हैं–

1. आराहए 2. तोसई 3. मुच्चाण सुभासियाइं सुस्सूसए और 4. अप्पमत्तो ।

विनय-भक्ति के सभी प्रकारों द्वारा गुरुजनों की भक्ति करे, इस सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है । उन्हें विनय-भक्ति तथा ज्ञानादि की आराधना से सन्तुष्ट-प्रसन्न करे । आचार्य के सुवचनों को खूब स्वस्थतापूर्वक श्रवण कर उनकी सेवा-शुश्रूषा करे तथा निद्रादि प्रमाद का त्याग कर अप्रमत्तभाव से उनकी आज्ञा का पालन करे । उनकी आराधना से अनेक सद्गुणों की आराधना होती है । सर्वोत्तम सिद्धि (मुक्ति) की सम्प्राप्ति होती है अथवा अनुत्तर विमान तक पहुँचकर सुकुलादि में जन्म लेकर परम्परा से मोक्ष-लाभ होता है ।

विनय से क्रमशः सिद्धि की समुपलब्धि होती है । इस बात को सम्पुष्ट करते हुए कहा है–

गुरुमिह सययंपडियरिय मुणी
जिणमय निउणे अभिगम कुसले
धुणिअ रयमलं पुरेकडं
भासुरमउलं गइं वयइ ॥[1]

जिनधर्म-सिद्धान्त में निपुण, अभिगम (अतिथि, मुनियों की सेवा अथवा विनय प्रतिपत्ति) में कुशल मुनि, इस लोक में निरन्तर गुरु की परिचर्या करके पूर्वकृत (कर्म) रज और मल को क्षय कर प्रकाशमय अतुल सिद्धि-गति को प्राप्त करता है ।

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1174

श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी म. भी पूजा-ढाल में इन्हीं विचारों को प्रस्तुत करते हैं-

द्रव्य-भाव करी विनयनी पूजा धन्नो ए पद सेवन्त रे ।
धनचन्द्र सूरि तीर्थपदभोगी, शिवसुख लहे जयवन्त रे ॥[1]

न केवल जैनदर्शन में, प्रत्युत जैनेतर ग्रन्थों में भी विनय से अनेकविध महान् लाभ की प्राप्ति मानी गई है ।

इसप्रकार उपर्युक्त समग्र विवेचन से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि साधक की दृष्टि में विनय का फल (उद्देश्य) बहुत महान् एवं उच्च रहना चाहिए । मोक्ष-प्राप्ति या कर्म-निर्जरा को दृष्टिगत रखकर उसे सतत विनय की आराधना करनी चाहिए ।

विनय से लाभ

विनय का जो उद्देश्य है, वही उसका लाभ है । परम और चरम फल है । विनय का उद्देश्य है अष्टकर्म रूप शत्रुओं के दल-बल को, समूल उन्मूलन कर अनुपम सिद्धि-गति को सम्प्राप्त करना ।

---

1 *जिनेन्द्र पूजा सग्रह, विशति स्थानकपद पूजा मे विनयपद पूजा*

उपसंहार

इसप्रकार विनय के समग्र विवेचन मे निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण जैनवाङ्मय का सार विनय है और विनय का सार-मोक्ष । **धम्मस्स विणओ मूलं एवं परमो से मोक्खो**[1] केवल इस एक सूत्र में समस्त जैन आर्हती परम्परा का सार गुम्फित है और वही हमारी व्यावहारिकता, धार्मिकता और आध्यात्मिकता का मूलाधार है ।

विनय का विराट् एवं सर्वांगीण विवेचन जैनागमों में समुपलब्ध होता है । उसके अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि जैनधर्म की समूची साधना-आराधना (ज्ञान-ध्यान, तप-जप, संयमादि) विनय प्रधान है । विनय का क्षेत्र इतना व्यापक है कि जीवन की समग्र क्रियाएँ उसी के अन्तर्गत समाहित हो जाती है ।

विनय, मुक्ति का प्रथम प्रवेश द्वार है, कल्याण का अक्षय-कोष है, जीवन का दिव्य प्रकाश है और आनन्द-प्राप्ति का एक अनुपम राजमार्ग है, जिससे लौकिक व लोकोत्तर असीम सुख-वैभव का खजाना खोला जा सकता है ।

धर्मरूपी भव्य-प्रासाद का शिलान्यास विनय से ही प्रारम्भ होता है । इतना ही नहीं, प्रत्युत विनय जीवन के लिए अमृतोपम औषधि है और आध्यात्मिकता की चरम विशुद्धावस्था को प्राप्त करने का महामन्त्र है ।

वह तो जिनशासन और धर्म की मूल भूमिका है, जीवन की ऊर्ध्ववाहिनी ऊर्जा है/उष्मा है, जिसे शब्दों में आबद्ध नहीं किया जा सकता, वाक्यों में व्यक्त नहीं किया जा सकता; अपितु उसे तो मात्र जीवन के कण-कण में आप्लावित किया जा सकता है ।

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-6 पृष्ठ-1170

वास्तविकता तो यह है कि जीवन की सुवास विनय में है और विनय से ही जीवन गौरवान्वित होता है । इसीलिए अभिधान राजेन्द्र कोष में विनय का जीवनव्यापी प्रभाव बड़े ही हृदयस्पर्शी शब्दों में चित्रित है । वहाँ विनय के व्यावहारिक और आध्यात्मिक अर्थात् लौकिक व लोकोत्तर उभयात्मक पक्षों पर प्रकाश डालते हुए कहा है–

विणयेण णरो गंधेण, चंदणं सोमयाइ रयणियरो ।
महुररसेण अमयं जणप्पियत्तं लहइ भुवणे ॥[1]

जैसे संसार में सुगन्ध के कारण चन्दन का, सौम्यता के कारण चन्द्रमा का एवं माधुर्य के कारण अमृत का गौरव है, वैसे ही विनय के कारण मनुष्य सम्पूर्ण जगत् में सम्माननीय बन जाता है ।

विशुद्ध शील– सदाचार सम्पन्न विनीत व्यक्ति इस लोक में यश–कीर्ति, मान–सम्मान व प्रतिष्ठा पाता है तथा संसार में सर्ववल्लभ बन जाता है । परलोक में सद्गति का भागी बनता है ।[2]

जयन्तसेन सतसई में भी इसकी झलक मिलती है–
जग में विनय–विवेक से, पाता नर सम्मान ।[3]

इस दृष्टि से विनय उभयलोक में कल्याणकारी एवं लाभकारी है । विनय से व्यक्ति लोकप्रियता प्राप्त करता है, आदरणीय बनता है ।

इसप्रकार विनय के उपर्युक्त विश्लेषण से यह सुस्पष्ट है कि जैनवाङ्मयकारों ने केवल मोक्ष–प्राप्ति हेतु ही विनय का उपदेश

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1181

2 सुविशुद्ध सील जुत्तो पावइ कीत्ति जस च इहलोए ।
सव्व जणवल्लहो वि य सुहगहभागीय परलोए ॥
–अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-6 पृष्ठ-1181

3 जयन्तसेन सतसई, पृष्ठ-34

नहीं दिया, प्रत्युत उन्हांन अपन चिन्तन ओर अनुभूति के प्रकाश म यह प्रकाशित करने का प्रयाम किया कि व्यावहारिक जीवन में भी विनय का अत्यधिक महत्त्व है ।

षष्ठम परिशिष्ट

जैन दर्शन वाटिका में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ : अध्ययन/गाथादि

पुष्प–6

पुष्प – 6

अभिधान राजेन्द्र : विनय

पुस्तक पृष्ठ सख्या	सदर्भ क्रमाक	सदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
270	1	उत्तराध्ययन 19/38
270	2	जयन्तसेन सतसई, पृ.-25
270	3	तैत्तिरीय आरण्यक 9/2
270	4	शतपथ ब्राह्मण, 3/4/4/27
270	5	शतपथ ब्राह्मण, 3/4/3/3
270	6	तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/7/7
270	7	सुस्तनिपात, 1/5/2
271	1	आवश्यक निर्युक्ति 103
271	2	सूत्रकृतांग सटीक 1/12
271	3	प्रश्नव्याकरण 2/3
272	1	अंगचूलिका 5 अध्ययन
272	2	बृहदावश्यक भाष्य 4441
272	3	विशेषावश्यक भाष्य 3468
273	1	आवश्यक बृहद् वृत्ति 2 अध्ययन
273	2	आवश्यक बृहद् वृत्ति 2 अध्ययन
273	3	स्थानांग सूत्र सटीक 3 ठाणा /3 उद्देश
274	1	स्थानांग सूत्र सटीक 3/3
274	2	आवश्यक बृहद् वृत्ति 2 अध्ययन
274	3	आवश्यक निर्युक्ति 867 एवं स्थानांग सूत्र सटीक-6, 531
275	1	द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका 28
275	2	आवश्यक मलयगिरि 1 अ.
275	3	आवश्यक मलयगिरि 1 अ.

पुस्तक पृष्ठ संख्या	सन्दर्भ क्रमांक	सन्दर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
276	1	दशवैकालिक सूत्र सटीक 9/1
276	2	नीतिवाक्यामृत, 11/6
277	1	दशवैकालिक 9/2/17
277	2	उत्तराध्ययन 1/18
277	3	दशवैकालिक 9/2/18
278	1	उत्तराध्ययन 1/21
278	2	उत्तराध्ययन 1/20
278	3	उत्तराध्ययन 1/22
278	4	दशवैकालिक 9/2/21
279	1	दशवैकालिक 9/3/1
280	1	दशवैकालिक 9/3/2
280	2	दशवैकालिक 8/41 एवं 9/3/3
281	1	दशवैकालिक 9/1/13
282	1	अगस्त्यचूर्णि, 208
282	2	जिनदास गणिकृत चूर्णि, 306
282	3	दशवैकालिक 9/1/12
283	1	दशवैकालिक 9/4/4
283	2	उत्तराध्ययन 1/3
284	1	उत्तराध्ययन 1/12
284	2	उत्तराध्ययन 1/13
284	3	उत्तराध्ययन 1/27-28-29
285	1	हीरप्रश्न प्रकाश-1
285	2	महानिशीथ 5/120
285	3	पंचाशक सटीक 5 विवरण
285	4	उत्तराध्ययन 1/29
285	5	उत्तराध्ययन 1/9
286	1	उत्तराध्ययन 1/9

पुस्तक पृष्ठ संख्या	सन्दर्भ क्रमांक	सन्दर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
286	2	दशवैकालिक 9/2/4
286	3	उत्तराध्ययन 1/27
286	4	उत्तराध्ययन 1/28
286	5	उत्तराध्ययन 1/14
287	1	उत्तराध्ययन 1/37
287	2	उत्तराध्ययन 1/13
288	1	उत्तराध्ययन 1/15
288	2	उत्तराध्ययन 1/4
288	3	उत्तराध्ययन 1/6
288	4	धम्मपद 4/12
288	5	उत्तराध्ययन 1/7
289	1	विशेषावश्यक भाष्य 3468
289	2	विशेषावश्यक भाष्य 3468
289	3	दशवैकालिक चूलिका 1/17
290	1	उत्तराध्ययन 1/15
290	2	उत्तराध्ययन 1/16
292	1	औपपातिक सूत्र-20 तपवर्णन, स्थानांग-7 ठाणा, भगवती 25/7
292	2	उत्तराध्ययन 30/32
293	1	दशवैकालिक 9/1/12
294	1	दशवैकालिक 9/1/11
295	1	औपपातिक सूत्र-20 तपवर्णन एवं भगवती सूत्र 25/7
295	2	औपपातिक सूत्र-20 तपवर्णन एवं भगवती सूत्र 25/7
296	1	औपपातिक सूत्र 20 एवं भगवती सूत्र 25/7

पुस्तक पृष्ठ संख्या	संदर्भ क्रमांक	संदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
296	2	भगवती सूत्र 25/7
297	1	दशवैकालिक सूत्र सटीक 9/2
297	2	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, श्रीविंशतिस्थानक पद पूजा में विनय पद पूजा
297	3	औपपातिक सूत्र 20, भगवती सूत्र 25/7
298	1	औपपातिक सूत्र 20 एवं भगवती सूत्र 25/7
298	2	औपपातिक सूत्र 20 एवं भगवती सूत्र 25/7
299	1	औपपातिक सूत्र 20 एवं भगवती सूत्र 25/7
301	1	औपपातिक सूत्र 20 एवं भगवती सूत्र 25/7
302	1	दशवैकालिक सूत्र सटीक 9/1
302	2	दशवैकालिक सूत्र सटीक 9/1
302	3	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, श्री विंशतिस्थानक पद पूजा में विनय पद पूजा
303	1	दशवैकालिक सूत्र सटीक 9/2
303	2	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, श्री विंशतिस्थानक पद पूजा में विनय पद पूजा
303	3	दशवैकालिक सूत्र सटीक 9/2
303	4	दशवैकालिक सूत्र सटीक 9/2
304	1	दशवैकालिक सूत्र सटीक 9/2
304	2	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, श्री विंशतिस्थानक पद पूजा में विनयपद पूजा
306	1	प्रशमरति-72-73-74

पुस्तक पृष्ठ सख्या	सदर्भ क्रमाक	सदभ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
306	2	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, श्री विंशतिस्थानक पूजा में विनयपद पूजा
307	1	दशवैंकालिक 9/2/2
308	1	दीर्घनिकाय-3/8/5
309	1	दशवैकालिक 9/2/1-2
309	2	विशेषावश्यक भाष्य 3468
310	1	ज्ञाताधर्म कथा 1/5
310	2	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, विंशति स्थानक पद पूजा में विनयपद पूजा
311	1	भगवद् गीता 4/38
311	2	आवश्यक निर्युक्ति 103
312	1	आचारांग वृत्ति शीलांकाचार्य 1/2/1
312	2	चंदावेज्झयं पयन्ना-62
314	1	बृहदावश्यक भाष्य 5203
314	2	निशीथ चूर्णि-13
314	3	दशवैकालिक 9/2/12
315	1	निशीथ भाष्य 6243
315	2	उत्तराध्ययन 1/46
315	3	विशेषावश्यक भाष्य 937
317	1	उत्तराध्ययन 1/45
318	1	उत्तराध्ययन 19/37
318	2	प्रशमरति प्रकरण गाथा-169
318	3	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, श्री विंशतिस्थानक पद पूजा में विनयपद पूजा
318	4	प्रशमरति प्रकरण गाथा 67
319	1	दशवैकालिक 9/2/21

पुस्तक पृष्ठ संख्या	संदर्भ क्रमांक	संदर्भ ग्रन्थ/अध्ययन/गाथादि
319	2	उत्तराध्ययन चूर्णि-1
323	1	उत्तराध्ययन सूत्र 1/6
324	1	दशवैकालिक 9/2/2
324	2	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, श्री विंशति स्थानक पद पूजा में विनय पद पूजा
325	1	आचारांग वृत्ति शीलांकाचार्य 1/2/1
325	2	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, श्री विंशति-स्थानक पद पूजा में विनय पद पूजा
326	1	दशवैकालिक 9/2/23
326	2	दशवैकालिक 9/1/16-17
327	1	उत्तराध्ययन 9/3/15
328	1	जिनेन्द्र पूजा संग्रह, श्री विंशति स्थानक पद पूजा में विनय पद पूजा
329	1	दशवैकालिक 9/2/2
330	1	धर्मरत्न प्रकरण 1 अधिकार
330	2	धर्मरत्न प्रकरण 1 अधिकार
330	3	जयन्तसेन सतसई पृष्ठ-34

विश्वपूज्य
प्रणीत सम्पूर्ण
वाङ्मय

विश्वपूज्य प्रणीत सम्पूर्ण वाङ्मय

- ❖ अभिधान राजेन्द्र कोष (1 से 7 भाग)
- ❖ अमर कोष (मूल)
- ❖ अघटकुँवर चौपाई
- ❖ अष्टाध्यायी
- ❖ अष्टाह्निका व्याख्यान भाषान्तर
- ❖ अक्षय तृतीया कथा (संस्कृत)
- ❖ आवश्यक सूत्रावचूरी टब्बार्थ
- ❖ उत्तमकुमारोपंन्यास (संस्कृत)
- ❖ उपदेशरत्नसार गद्य (संस्कृत)
- ❖ उपदेशमाला (भाषोपदेश)
- ❖ उपधानविधि
- ❖ उपयोगी चौवीस प्रकरण (बोल)
- ❖ उपासकदशाङ्ग सूत्र भाषान्तर (बालावबोध)
- ❖ एक सौ आठ बोल का थोकडा
- ❖ कथासंग्रह पञ्चाख्यानसार
- ❖ कमलप्रभा शुद्ध रहस्य
- ❖ कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म (श्लोक व्याख्या)
- ❖ करणकामधेनु सारिणी
- ❖ कल्पसूत्र बालावबोध (सविस्तर)
- ❖ कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी
- ❖ कल्याणमन्दिर स्तोत्रवृत्ति (त्रिपाठ)
- ❖ कल्याण (मन्दिर) स्तोत्र प्रक्रिया टीका
- ❖ काव्यप्रकाश मूल
- ❖ कुवलयानन्द कारिका

- केसरिया स्तवन
- खापरिया तस्कर प्रबन्ध (पद्य)
- गच्छाचार पयन्नावृत्ति भाषान्तर
- गतिष्ट्या-सारिणी
- ग्रहलाघव
- चार (चतु:) कर्मग्रन्थ-अक्षरार्थ
- चन्द्रिका-धातु पाठ तरङ्ग (पद्य)
- चन्द्रिका व्याकरण (2 वृत्ति)
- चैत्यवन्दन चौवीसी
- चौमासी देववन्दन विधि
- चौवीस जिन स्तुति
- चौवीस स्तवन
- ज्येष्ठस्थित्यादेशपट्टकम्
- जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति बीजक (सूची)
- जिनोपदेश मञ्जरी
- तत्त्व विवेक
- तर्क संग्रह फक्किका
- तेरहपन्थी प्रश्नोत्तर विचार
- द्वाषष्टिमार्गणा-यन्त्रावली
- दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र चूर्णी
- दीपावली (दिवाली) कल्पसार (गद्य)
- दीपमालिका देववन्दन
- दीपमालिका कथा (गद्य)
- देववन्दनमाला
- घनसार-उत्तमकुमार चौपाई
- ध्रष्टर चौपाई
- धातुपाठ श्लोकबद्ध
- धातुतरङ्ग (पद्य)

- ❖ नवपद ओली देववन्दन विधि
- ❖ नवपद पूजा
- ❖ नवपद पूजा तथा प्रश्नोत्तर
- ❖ नीति शिक्षा द्वय पच्चीसी
- ❖ पञ्चसप्ततिशत स्थान चतुष्पदी
- ❖ पञ्चाख्यान कथासार
- ❖ पञ्चकल्याणक पूजा
- ❖ पञ्चमी देववन्दन विधि
- ❖ पर्यूषणाष्टाह्निका-व्याख्यान भाषान्तर
- ❖ पाइय सद्दम्बुही कोस (प्राकृत)
- ❖ पुण्डरीकाध्ययन सज्झाय
- ❖ प्रक्रिया कौमुदी
- ❖ प्रभुस्तवन-सुधाकर
- ❖ प्रमाणनय तत्त्वालोकालङ्कार
- ❖ प्रश्नोत्तर पुष्पवाटिका
- ❖ प्रश्नोत्तरमालिका
- ❖ प्रज्ञापनोपाङ्गसूत्र सटीक (त्रिपाठ)
- ❖ प्राकृत व्याकरण विवृत्ति
- ❖ प्राकृत व्याकरण (व्याकृति) टीका
- ❖ प्राकृत शब्द रूपावली
- ❖ बारेव्रत संक्षिप्त टीप
- ❖ बृहत्संग्रहणीय सूत्र चित्र (टब्बार्थ)
- ❖ भक्तामर स्तोत्र टीका (पञ्चपाठ)
- ❖ भक्तामर (सान्वय-टब्बार्थ)
- ❖ भयहरण स्तोत्र वृत्ति
- ❖ भर्त्तरीशतकत्रय
- ❖ महावीर पञ्चकल्याणक पूजा
- ❖ महानिशीथ सूत्र मूल (पञ्चमाध्ययन)

- मर्यादापट्टक
- मुनिपति (राजर्षि) चौपाई
- रसमञ्जरीकाव्य
- राजेन्द्र सूर्योदय
- लघु संघयणी (मूल)
- ललित विस्तरा
- वर्णमाला (पाँचकक्का)
- वाक्य-प्रकाश
- बासठ मार्गणा विचार
- विचार-प्रकरण
- विहरमाण जिन चतुष्पदी
- स्तुति-प्रभाकर
- स्वरोदयज्ञान-यन्त्रावली
- सकलैश्वर्य स्तोत्र सटीक
- सद्यगाहापयरण (सूक्ति-संग्रह)
- सप्ततिंशत स्थान-यन्त्र
- सर्वसंग्रह प्रकरण (प्राकृत गाथा बद्ध)
- साधु वैराग्याचार सज्झाय
- सारस्वत व्याकरण (3 वृत्ति) भाषा टीका
- सारस्वत व्याकरण सूत्रानुक्रम
- सारस्वत व्याकरण स्तुबुकार्थ (1 वृत्ति)
- सिद्धचक्र पूजा
- सिद्धाचल नव्वाणुं यात्रा देववन्दन विधि
- सिद्धान्त प्रकाश (खण्डनात्मक)
- सिद्धान्तसार सागर (बोल-सग्रह)
- सिद्धहैम प्राकृत टीका
- सिन्दूरप्रकर सटीक
- सेनप्रश्न बीजक

- शङ्खोद्धार प्रशस्ति व्याख्या
- षड्द्रव्य विचार
- षड्द्रव्य चर्चा
- षडावश्यक अक्षरार्थ
- शब्द कौमुदी (श्लोक)
- 'शब्दाम्बुधि' कोश
- शान्तिनाथ स्तवन
- हीर प्रश्नोत्तर बीजक
- हैमलघुप्रक्रिया (व्यञ्जन संधि)
- होलिका प्रबन्ध (गद्य)
- होलिका व्याख्यान
- त्रैलोक्यदीपिका-यन्त्रावली

लेखिका द्वय की महत्वपूर्ण कृतियाँ

लेखिकाद्वय की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ

1. आचाराङ्ग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन (शोध प्रबन्ध)
   लेखिका : डॉ प्रियदर्शनाश्री, एम ए , पीएच-डी
2. आनन्दघन का रहस्यवाद (शोध प्रबन्ध)
   लेखिका : डॉ सुदर्शनाश्री, एम ए , पीएच-डी
3. अभिधान राजेन्द्र कोष में, सूक्ति-सुधारस (प्रथम खण्ड)
4. अभिधान राजेन्द्र कोष में, सूक्ति-सुधारस (द्वितीय खण्ड)
5. अभिधान राजेन्द्र कोष में, सूक्ति-सुधारस (तृतीय खण्ड)
6. अभिधान राजेन्द्र कोष में, सूक्ति-सुधारस (चतुर्थ खण्ड)
7. अभिधान राजेन्द्र कोष में, सूक्ति-सुधारस (पंचम खण्ड)
8. अभिधान राजेन्द्र कोष में, सूक्ति-सुधारस (षष्ठम खण्ड)
9. अभिधान राजेन्द्र कोष में, सूक्ति-सुधारस (सप्तम खण्ड)
10. विश्वपूज्य: श्रीमद् राजेन्द्रसूरि : जीवन-सौरभ (अष्टम खण्ड)
11. अभिधान राजेन्द्र कोष मे, जैनदर्शन-वाटिका (नवम खण्ड)
12. अभिधान राजेन्द्र कोष में, कथा-कुसुम (दशम खण्ड)
13. राजेन्द्र सूक्ति नवनीत (एकादशम खण्ड)
14. जिन खोजा तिन पाइयॉ (प्रथम महापुष्प)
15. जीवन की मुस्कान (द्वितीय महापुष्प)
16. सुगन्धित-सुमन {FRAGRANT-FLOWERS}(तृतीय महापुष्प)

प्राप्ति स्थान :

श्री मदनराजजी जैन
द्वारा- शा. देवीचन्दजी छगनलालजी
आधुनिक वस्त्र विक्रेता, सदर बाजार,
पो - भीनमाल-343029
जिला- जालोर (राजस्थान)
☎ (02969) 20132